

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178795

UNIVERSAL
LIBRARY



बड़ी मछली

दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय'



सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन, २०५-बी चावड़ी बाजार, दिल्ली-६
सर्वाधिकार : सुरक्षित / संस्करण : प्रथम, १९९२ / मूल्य : पैंसठ रुपए
मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

BADI MACHHALI

Stories by Dr. Dayakrishna Vijayavargiya Rs. 65.00

समर्पण

उसी लोक-जीवन को जिसे दर्पण की भाँति
मैंने इन कथाओं में बिबित किया है ।

कथाकार कथन

मैं मूलतः कवि हूँ। कविता हृदय और भावना से संबंधित होती है। आजकल नई कविता अवश्य विचार और बुद्धि की वस्तु हो गई है, लेकिन जब मैंने सन् १९४५ के अगस्त में तुलसी जयंती पर पहली कविता लिखी थी, तब निश्चय ही कविता भावना और हृदय से जुड़ी थी। लेकिन ज्यों-ज्यों डिग्रियाँ मेरे आगे लगती गईं, भावना का स्रोत सूखता गया और आलोचक की बुद्धि विकसित होती गई। कविता इतनी रसमयी न रहकर या तो समसामयिक हो गई या यथार्थपरक।

कहानी का परिदृश्य भी मेरा कुछ ऐसा ही है। कहानी की वस्तु जहाँ लोक-जीवन से ढूँढ़नी होती है, वहाँ कविता अंतर की वस्तु होती है। संवेदना की भूमिका दोनों में समान होती है। दो तरह की कहानियाँ मैं प्रारंभ से ही देखता और पढ़ता रहा हूँ। एक प्रकार की कहानियाँ तो वे हैं जो लेखकों, पत्रकारों या यथार्थजीवियों के द्वारा लिखी जाती हैं। दूसरे प्रकार की कहानियाँ वे हैं जो कवियों के द्वारा लिखी जाती हैं, जिसमें काव्यात्मक भाषा, रसात्मक सौंदर्यबोध तथा संवेदनाजनित कथावस्तु का प्राधान्य होता है। पत्रकारोवाली कहानियाँ सीधी-सच्ची सपाटबयानी होती हैं, उनमें रसात्मकता भी होती है तो वह सतही। यह आवश्यक नहीं कि सभी मेरे इस विश्लेषण को स्वीकारें। ऐसा मैंने अनुभव किया और दोनों के साहित्य में अंतर पाया, वह लिखा है।

हर कहानी यथार्थ को लेकर चलती है। यहाँ तक कि अधिकांश कथा-वस्तु देखी, सुनी, पढ़ी या भोगी ही होती है। केवल ग्राम तथा पात्रों के नाम ही अजनबी होते हैं। कहानी के यथार्थ से तात्पर्य यदि घटना से जोड़े, तो यही बात निकलेगी। यदि इस यथार्थ को किसी वाद विशेष से जोड़े, तो उस यथार्थ के साथ, यह यथार्थ अतिरिक्त रूप से जुड़ा मिलेगा। इस नाते

भी कहानियों के दो वर्ग दिखाई देते हैं। एक वादग्रस्त, जिसे प्रतिबद्ध कह सकते हैं और दूसरा लोक प्रभावित यथार्थवादी, जिसमें किसी वाद को ढालने का प्रयत्न न होकर घटना को यथावत् रूप में, किसी आदर्श की सिद्धि के साथ प्रस्तुत करना भर रहता है।

इस तरह कहानी के चार वर्ग हो जाते हैं। दो वर्ग शिल्प के आधार पर तथा दो वस्तु के आधार पर।

मेरी कहानी-यात्रा कविता के साथ ही प्रारंभ होती है, इसलिए उसमें प्रारंभ से ही रूमानीयत तथा भाषाई चमत्कार रहा। बाद में ज्ञान-विज्ञान व राजनीति ने विचारों को प्रभावित किया। मैं किसी वाद विशेष के लिए प्रतिबद्ध कभी नहीं रहा। अधिक-से-अधिक भारत और भारतीयता के भाव ने अवश्य झकझोरे रखा। वही मेरी कहानियों में लक्षित भी होता है। मेरी कहानियाँ सामान्य लोक-जीवन की कहानियाँ हैं। वे न तो फैंकटरी की कहानियाँ हैं न नौकरी की। मनोविज्ञान और दर्शन ने मेरे उत्तरवर्ती जीवन को अधिक प्रभावित किया, परिणामतः कविता ही नहीं, कहानी भी मनोविज्ञान के धरातल पर उतरी, दार्शनिक धरातल पर चली और आदर्श के धरातल पर समाप्त हुई। मेरी प्रारंभिक और बादवाली कहानियों में यह अंतर स्पष्ट मिलेगा। बीज कही-न-कही छिपा होता है, जो बाद में वृक्ष बनता है। इसलिए यह नहीं कहता कि मेरी प्रारंभिक रचनाओं में मनोविज्ञान या आदर्श नहीं था। था, अवश्य था। परंतु उस पर भाषा का चमत्कार, जातीय गुणों की प्रशस्ति, ओजस्वी वक्तव्य छाए रहे हैं। कही स्वयं लेखक चित्रित होता रहा है लेकिन उत्तरवर्ती कहानियों में ऐसा नहीं है। काव्योचित गठन तो है, भाषाई सौंदर्य भी है, लेकिन कथावस्तु से अधिक विचारों पर केन्द्रित है।

मैंने कथा के विकास का इतिहास पढ़ा है। समझा है। बौद्धिक स्तर पर घुल-मिलकर भी, मैं लेखक के स्तर पर किसी प्रतिबद्धता से नहीं बँधा हूँ। इसलिए मैं यह नहीं कहना चाहता कि मैंने समकालीन कहानी लिखी है या अकहानी। मैंने समांतर कहानी कही है, या यथार्थपरक। मैंने इन संबोधनों में अपने को कभी बाँधने की चेष्टा न कर, कथा के क्षेत्र के विभिन्न प्रयोगों को समझने, सहेजने तथा आत्मसात करने का प्रयत्न अवश्य किया है। वे कब, कैसे और कहाँ आ गए, यह मैं नहीं जानता। यह लेखक का काम भी नहीं

होता। इसे मैं सुधी समालोचको पर ही, जिनका यह क्षेत्र है, छोड़ देता हूँ।

प्रतिबद्ध समीक्षकों ने स्थापित कहानीकार या अस्थापित कहानीकार—
ऐसे वर्ग अपनी रुचि के अनुसार कर रखे हैं। लेखो के माध्यम से अपने वर्गी-
करण को मनवाने का उन्होंने भरपूर यत्न भी किया है, और कर भी रहे हैं।
मैंने जैसा कहा, प्रतिबद्ध न होने से उनकी परिधि में मैं नहीं आ पाया हूँ।
उनके द्वारा मेरी रचनाओं की समीक्षा होने का तो प्रश्न ही नहीं रहा,
इसलिए मेरी कथा-यात्रा असमीक्षित ही रही। कुछ लघु शोध-प्रबंध या लेख
जो केवल मुझ पर ही लिखे गए हैं, उनमें ही मेरी रचनाओं पर विचार हुआ
है। उन्होंने कथाओं की समीक्षा अपनी दृष्टि से की है। सराहा भी है।

मेरी पहली कथा-पुस्तक जिसे मेरी पहली प्रकाशित पुस्तक होने का
भी सौभाग्य है, वह है 'उलझन'। यह सन् १९५३ में प्रकाशित हुई थी।
स्पष्ट है यह मेरे कवि मन की कहानियों का संग्रह है। भावना-प्रधान है।
भाषा-प्रधान, आदर्श-प्रधान। दूसरे कथा-संग्रह 'स्वप्न और सत्य' की
कहानियाँ दूसरे धरातल की कहानियाँ हैं, जिनमें विचार हैं, बुद्धि है। आदर्श
भी यथार्थ पर केंद्रित है। मनोविज्ञान है, दर्शन है। शिल्प की दृष्टि से हर
कहानी एक प्रयोग है। वस्तु की दृष्टि से हर कहानी कोई एक संदेश देती है।
यह तीसरा कथा-संग्रह मेरे चित्त की प्रौढ़ता की कृति है। इसमें घटना कम,
विचार, दर्शन, मनोविज्ञान, परिस्थिति, नीति, राजनीति अधिक है। इसमें
कथाकार को समझने में जहाँ आसानी है, वही कहानी सपाटबयानी न
होकर एक पठनीय, मननीय वस्तु हो गई है। निश्चय ही 'उलझन' तथा
'स्वप्न और सत्य' से कही आगे बढ़ा है इसका शिल्प, और कही आगे बढ़ा है
इसका वस्तु-पक्ष।

आपके सामने यह है इसलिए मैं अधिक न कहकर यही कहूँगा, एक बार
पढ़े अवश्य। अपने विचारों से मुझे अवगत भी कराएँ तो मैं अपना श्रम
सार्थक हुआ मानूँगा।

विजय भवन

भवदीय

सिविल लाइस, कोटा
(राज०) ३२४००१

डॉ० दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय'

कथा-क्रम

१. विवाहिता	१३
२. वसीयत	२१
३. बड़ी मछली	३१
४. मोहभंग	३६
५. ममत्व	५०
६. स्वाभिमान	६१
७. संकल्प	६६
८. भविष्यद्रष्टा	७६
९. गाय की पूँछ	८६
१०. गृहलक्ष्मी	९८
११. सोने की मोहरें	१०६
१२. वंशीवाला	११८
१३. संवेदना के क्षितिज	१२४
१४. आम के पेड़	१३७
१५. दाख	१४५
१६. आधा पराँठा	१५२
१७. अवतार	१५६
१८. पर्दे के पीछे	१६७

विवाहिता

“नकुल, भई मेरा तो यहाँ मन नहीं लग रहा। भारत ही जाऊँगा।” जब दशरथराय ने यह बात अपने लाड़ले बेटे से कही, तो वंदना मन-ही-मन मुसकराकर दूसरी ओर जाने का उपक्रम करने लगी।

वदना ने मन-ही-मन कहा, ‘मन तो वहाँ भटकता है, यहाँ कैसे मन लगेगा। मैं तो कभी अच्छी लगी ही नहीं। उस डायन ने न जाने क्या कर रखा है। बीमारी में भी चैन नहीं।’

“अभी तो आपको आए महीना-भर भी पूरा नहीं हुआ है। आपका ऑपरेशन भी अभी हरा ही है। चले जाना, ऐसी भी क्या जल्दी है। माताजी यहाँ हैं ही।” नकुल ने कहा।

“यह तो बहू के साथ घर के काम-काज में जैसे-तैसे मन लगा लेती है। मैं कहाँ जाऊँ? अंग्रेजी मुझे आती नहीं। कोई आस-पास परिचित भी नहीं। हिंदी की पत्रिकाएँ यहाँ आती नहीं। दिन-भर मक्खी ही मारनी होती है।”

“लोग हजारों रुपए खर्च करके विदेश घूमने आते हैं और एक आप हैं जो स्वदेश लौटना चाहते हैं।”

दशरथराय विषय को आगे नहीं बढ़ाना चाहते थे। जाना अभीष्ट था, इसलिए अचूक ब्रह्मास्त्र की तरह उन्होंने दाग दिया, “जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।”

वंदना जो किवाड़ की आड़ में खड़ी वार्तालाप सुन रही थी, ओट से निकलकर आ खड़ी हुई। बोली, “अब ये जाना ही चाहते हैं तो चले जाने दे। ये रुकेंगे थोड़े ही।”

यह कहकर वंदना ने मन का क्रोध शब्दों में उगल दिया। दशरथराय तो शब्दार्थ समझ गए। नकुल गूढ़ार्थ जानना भी नहीं चाहता था।

आकाश में उड़ते हुए दशरथराय अंततः भारत लौट ही आए। वह वंदना

को न तो लाए और न ही वह आना चाहती थी। जीवन में उसे सुख भी कौन-सा दिया था दशरथराय ने, जो आती।

भरी जवानी में सौत बनकर कामना आ गई थी। कामना न तो रूप में उतनी अच्छी थी जितनी वंदना और न आयु में वंदना की तुलना में अधिक युवा। लेकिन एक परंपरागत तरीके से सात फेरो के साथ आई थी तो दूसरी पारस्परिक आकर्षण से। एक दिन-भर दूर रहती, तो दूसरी दिन-भर सटी। इसलिए शृंगाररहित होते हुए भी कामना दशरथराय के तन-मन पर कामचेतना बनकर छा गई। न दशरथराय कामना के बिना रह पाते थे और न कामना दशरथराय के बिना। विद्यालय से ५ बजे बिछुड़ जाने के बाद भी कामना अपने घर पर दशरथराय की प्रतीक्षा करती और भोजन के बाद घूमने के बहाने दशरथराय उसके घर पर जाते ही। रात बड़ी देर से लौटते। वंदना मन-मारे नकुल को बाहुओं में दबाए सोई रहती।

वहुत वर्षों तक इसी तरह चलता रहा। वंदना स्वभाव से विनम्र, शालीन तथा पतिपरायण थी। इसलिए अनावश्यक विवाद में उलझना भी नहीं चाहती थी। दशरथराय इसे वंदना की दुर्बलता समझकर उसका अनुचित लाभ उठाते हुए कामना के साथ अपने अवैध संबंधों को और सुदृढ़ करते रहे। सीमा यहाँ तक बढ़ी कि दशरथराय जिस मकान में किराए पर रहते थे उस मकान का एक कमरा खाली होते ही उन्होंने कामना को किराए पर दिलवा दिया। अब घर से विद्यालय साथ जाने, विद्यालय से घर साथ आने, विद्यालय में भी साथ-साथ रहने से वे अधिक निकट आते रहे।

वंदना नकुल के बाद होनेवाली लड़कियों से लदी रही। कामना ने प्रसव के दिनों में उसे अत्यधिक सहयोग दिया। यहाँ तक कि खाना भी वही बना देती थी। खिला देती। कोई कठिनाई नहीं होने देती। परिणामतः उसी घर में उसका आना-जाना, बैठना-उठना, खाना-पीना होने लगा। एक तरह से वह परिवार की ही सदस्या बन गई। अपने आराम को देखते हुए वंदना ने भी उसे बुरा नहीं माना। वह माने भी तो उसे कौन माननेवाला था। वह एक शीलवती नारी की भाँति, सब जानते हुए भी मौन बनी रही। अपने काम से काम रखती रही। कामना भी बहुत चतुर थी। अध्यापिका थी न। शाम को घर आती तो सब्जी लाना नहीं भूलती।

“भाभीजी, साग बड़ा सस्ता था। आपके लिए भी खरीद लाई हूँ।”

“भाई साहब साथ नहीं थे क्या?”

“नहीं, वह अपने किसी मिलनेवाले के यहाँ चले गए थे। अपने लिए साग लाना था। सोचा आपके लिए भी ले चलूँ।”

“कितने का आया?”

“ओह, आप भी कैसी बात कर रही हैं, भाभीजी। कितनी बार भोजन यहाँ ही कर लेती हूँ।”

“व्यवहार व्यवहार की जगह है और हिसाब हिसाब की जगह।”

“अरे भाभीजी, आप भी बड़ी छोटी बात कर रही है। साग बनाओ तो ले लूंगी। हिसाब बराबर।”

“ठीक .. ठीक।”

कामना साग के बहाने भोजन भी वही करती। औपचारिकतावश वंदना कहती ही और कामना नटती नहीं। कामना ने चतुरता से दशरथराय को जीता तो जीता, वंदना को भी सेवा और सहयोग से जीतना प्रारंभ कर दिया। वह वंदना की रसोई में हाथ बँटाने लगी।

स्त्री कभी दूसरी स्त्री को अपना प्रेम नहीं बाँटने देती। यह स्वाभाविक भी है। लेकिन वंदना घर की शांति और अपने आराम के लिए सब कुछ जानकर भी, घर में कामना के बढ़ते हुए आवागमन व हस्तक्षेप को दृष्टि से ओझल करती रही।

उधर दशरथराय और कामना के बीच की सभी दूरियाँ तब समाप्त हो गई जब उसने अपनी सेवा-पजिका में पति के स्थान पर दशरथराय का नाम लिखवा दिया। वही पता दे दिया जो दशरथराय का था। वंदना ने तो बुरा नहीं माना, लेकिन अध्यापक-अध्यापिकाएँ विशेष खुसुर-फुसुर करने लगी। अकेले में व्यंग्य-बाण भी फेंकने लगी। लेकिन कामना पर इसका कोई प्रभाव इसलिए नहीं था, क्योंकि वह चाहती भी थी कि लोग उसे ऐसा कहें।

बाते एक मुँह से दूसरे मुँह चलती हुई इतनी बढ़ी कि दशरथराय का स्थानांतरण शहर से बाहर कर दिया गया। कामना का किसी दूसरे कस्बे में। लेकिन पैसों से क्या नहीं होता। इज्जत, ईमान, स्वार्थ, परमार्थ, संबंध सब कुछ पैसों से खरीदा जा सकता है। थोड़े दिनों के बाद ही दोनों का

“बाकी आप क्यों नहीं दे देते।” कामना ने दशरथराय से कहा।

“पाँच हजार कहाँ से लाऊँ?”

बंदना भी बातें सुनकर निकट आ गई। पहले वह दोनों जब बातचीत करते होते, तो नहीं आती थी। लेकिन उसके बेटे का प्रश्न था न। किसे अपने पुत्र से प्रेम नहीं होता। माँ की ममता की कहानी बड़ी हृदयग्राही है।

कामना ने उसे देखकर कहा, “क्यों भाभीजी, भाई साहब ५,००० रुपए भी नकुल के लिए नहीं दे सकते?”

“ये ही जानें। देना चाहें तो दे सकते हैं। चला जाएगा तो जिदगी बन जाएगी। कह दो न हाँ।” बंदना ने दशरथराय से कहा।

“देख, इससे अधिक तो फिर नहीं माँगेगा न?” दशरथराय ने नकुल को संबोधित करते हुए कहा।

“नहीं। मेरा काम चल जाएगा। विश्वविद्यालय ने मेरे प्रथम आने पर मुझे विशेष योग्यता-वृत्ति देने की घोषणा की है। जब तक पढ़ूँगा मुझे वह वृत्ति मिलेगी।”

“अच्छा, मैं कहीं से लेकर दे दूँगा।”

दशरथराय ने जैसे-तैसे एक श्रेष्ठि से पाँच हजार रुपए उधार लिए। कामना को रुपए देते देर नहीं लगी। परिणामतः नकुल आज विदेश में पढ़ रहा है।

नकुल की शिक्षा वहाँ क्या पूरी हुई उसे वही अच्छी नौकरी भी मिल गई। उसने वहाँ थोड़े वर्षों में ही इतना सामान बना लिया तथा पैसा जोड़ लिया कि वहाँ से आने की इच्छा ही नहीं रही। पुत्र-प्रेम के कारण कहें या अपनी बीमारी के कारण, दशरथराय को विदेश जाना पड़ा। नकुल ने वहाँ उनका ऑपरेशन एक बड़े डॉक्टर से करवा दिया। वह सफल भी रहा।

नकुल ने दशरथराय के स्वदेश लौटने के कुछ समय बाद ही एक प्लाट खरीद दिया तथा रहने के लिए एक बड़ा अच्छा मकान बना दिया। दशरथराय के कमरे से सटे कमरे पर कामना ने अपना अधिकार कर लिया। दोनों की खूब छनने लगी। आधुनिक शैली के बने नए मकान में वे इस तरह रहने लगे, मानो कोई नया जोड़ा आकर रहने लगा हो।

अचानक एक दिन घर में ही दुर्घटना घट गई। दशरथराय स्नानघर से आते समय अपने ही कमरे के संगमरमर के चिकने फर्श पर फिसल पड़े और उनके कूल्हे की हड्डी टूट गई। कामना उन्हें तत्काल अस्पताल ले गई, जहाँ डेढ़ महीने के लिए एक लंबा पट्टा उनके बांध दिया गया और अस्पताल से घर भिजवा दिया गया। दशरथराय पलंग से उठ नहीं सकते थे। उन्हें टट्टी-पेशाब पलंग पर ही करनी होती थी। स्नान, कपड़े बदलना वहीं होता था। वहीं नाश्ता और भोजन। जब तक अस्पताल में रहे तब तक तो कामना ने मन से सेवा की लेकिन घर आने के बाद रोज-रोज की टट्टी-पेशाब की दिक्कत से वह झुंझला उठी। उसका प्रेम-भाव वितृष्णा में बदलने लगा। दशरथराय आवाज देते, “पेशाब करना है” तो कामना यह कहकर मुंह भारी कर लेती, “आती हूँ।”

दशरथराय उसके आने में जितनी तत्परता की अपेक्षा करते थे, उतनी त्वरा उसकी क्रिया में नहीं होती। वह विलंब से पहुँचती, तो दशरथराय कुढ़ते हुए कहते, “सुनती नहीं थीं क्या, क्या पेशाब पाजामे में कर दूँ?”

“आ तो रही थी, रोटी तवे पर पड़ी थी उसे तो सेंक आती, जल जाती तो?”

“तुम्हें बहाना बनाना भी बहुत आ गया है। अभी ही रोटी सिकने लगी है क्या?” कहते-कहते दशरथराय की आँखों में बल आ जाता, माथे पर त्रिशूल बन जाता।

कभी मल का वेग बढ़ता और दशरथराय उसे बुलाते, तब तो कामना को पसीना आ जाता। उसे लेटरीन पाँट उठाकर लाने में बड़ी दिक्कत होती। ले जाते समय का तो हाल ही मत पूछो। वह अपने कक्ष से आते ही संकोच करती। तब दशरथराय बिफर उठते, अपशब्द तक कहने लग जाते। उसके प्रेम को कोसने लग जाते। उस पर स्वार्थी होने का दोष लगाते। उनका मन कामना की ओर से खिंचने लगा। वह ताड़ गए कि कामना का प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं था। वह शारीरिक सुख की भूखी थी। उसे अपने व्यक्तित्व के विकास की चिंता भर थी।

उन्होंने नकुल से मिलने के बहाने चुपचाप उसे तार दिलवा दिया। अपना कूल्हा टूट जाने तथा तत्काल वंदना को भिजवाने के लिए लिखा।

तार के पहुँचते ही नकुल ने वंदना को पहली प्राप्त हवाई सेवा से रवाना कर दिया। वह भी चलने को तैयार हुआ तो वंदना ने यह कहकर रोक दिया कि मैं अकेली ही चली जाऊँगी।

हवाई अड्डे से निकलते ही वह ट्रेन पकड़कर सीधी घर पहुँची। घर में पैर रखते ही उसकी आँखें आँसुओं से भर गई। दशरथराय के पास पहुँचते-पहुँचते तो रोने ही लगी। सामान पटककर दशरथराय के पास जाकर उनसे लिपट गई।

“यह कैसे क्या हो गया ? मैं रास्ते-भर चिंता में डूबी रही। आप अब कोई चिंता न करें, जल्दी ही ठीक हो जाएँगे।”

दशरथराय की भी आँखें भर आई। गला भर आया। करवट ले नहीं सकते थे। गरदन दूसरी ओर करते हुए सुबकने लगे।

अपने आँचल से आँसुओं को पोंछते हुए वंदना ने कहा, “रोते क्यों हो ? मैं आ गई हूँ। आपको कोई कष्ट नहीं होने दूँगी।”

और हुआ भी यही। वंदना ने दशरथराय की सेवा-शुश्रूषा में अपने को झोंक दिया। वह समय पर सारा नित्य-कर्म करवाती। कपड़े बदलती। तेल लगाती। बाल सँवारती। कपड़े धोती। समय पर नाश्ता-चाय, पानी देती।

कामना वंदना की सेवा से और चिढ़ गई। दशरथराय भी कामना के प्रति उतने अनुकूल नहीं रहे। उसे कम बुलाते। आती तो बोलते नहीं। मुँह फेर लेते। कामना भी दशरथराय के भाव ताड़ गई और अपने पीहर में हो रही शादी का बहाना करके वहाँ चली गई।

दशरथराय ठीक हो गए। ठीक क्या हुए वंदना की सेवा से अभिभूत हो सोचने लगे, यदि वंदना नहीं होती तो मुझे जीवन में न जाने कितने कष्ट और उठाने पड़ते। पहली बार उन्हें अनुभव हुआ कि विवाह दांपत्य-संबंध का नहीं, परस्पर समर्पण का एक अनूठा अध्याय है।

वसीयत

कमलेश्वर की बहू घर में क्या आई, साक्षात् कलह घर में घुस आई। यह कभी स्वभाव की बात होती है तो कभी जन्म-पत्री की। बहू जब काम-चोर, कृपण तथा हृदयहीन होती है, तो उसे भरा-पूरा घर, देवर, ननद, सास, श्वसुर सब कचोटते से लगते हैं और वह भिन्नाकर कहीं एकांत में अकेले अपने पति के साथ रहना पसंद करती है। कभी-कभी सास-बहू की राशियाँ मित्र नहीं होतीं, शत्रु होती हैं, तब वे बिना चाहे भी परस्पर शत्रु-सा व्यवहार करने लगती हैं तथा बात-बात में झगडती हैं। सास कहे तो बहू को पसंद नहीं और बहू कहे तो वह सास को पसंद नहीं। राशियों की भिन्नता रुचियों की भिन्नता को जन्म दे देती है।

इन दोनों में से किस बात ने कमलेश्वर की बहू को कलहकारिणी बना दिया, यह बात कोई मनोवैज्ञानिक या ज्योतिषी ही भली प्रकार बता सकता है।

कमलेश्वर की बहू आई तब तो बड़ी सयानी, बड़ी मुशील तथा बड़ी सुंदर लग रही थी। मुंहदिखावे के समय, जिसने भी उसे देखा, बहुत सराहा। सभी यही कहती, “बहू बहुत सुंदर है। दोनों की जोड़ी ऐसी मिली है कि शब्दों में कह नहीं सकते।”

कोई कहता, “विधाता के पूर्वजन्म के संस्कारों का यह प्रतिफल है।”

कोई कहता, “दोनों को एक ही मिट्टी से प्रभु ने घड़ा है।”

जितने मुँह उतनी बातें। पर बातें हर्ष की, प्रसन्नता की ही। निराशा की नहीं, निरुत्साह की नहीं, उल्लास की ही।

उसके पीहरवाले साथ ही आ गए थे। आशीर्वाद-समारोह आदि बड़ी धूमधाम से निपटे कि वे उसे ले गए। ब्राह्मण थे न।

राजपूत होते तो बहू महीने-भर नहीं जाती। उनके यहाँ ऐसी ही प्रथा

है। पहले राजपूतो में चढ़ी आयु में विवाह होते थे। फिर राजा लोग थे न, इसलिए भविष्य पर भरोसा भी कम था। कब युद्ध माथे आ जाए। इसलिए वंश के निमित्त बहू को तब तक रोके रखना, जब तक वह वंशधारिणी न हो जाए।

एक तरह से यह अच्छी बात है। विवाह का अर्थ वंश-वर्धन ही तो है। वह विवाह किस काम का जो वंश नहीं बढ़ाए। 'मन चाहे जब तक बच्चा नहीं' वाला सिद्धांत नहीं, 'पहले बच्चा' वाला सिद्धांत उस समय शायद प्रचलित था। परिस्थितियाँ आचरण को ढालती हैं। सृष्टि में विभिन्न संस्कृतियाँ, सभ्यताएँ या आचरण-पद्धतियाँ दिखाई देती हैं, उनके मूल में पारिवेशिक परिस्थितियाँ ही अधिक सक्रिय हैं। गरम देशों में लुगी पहनी जाती है, तो शीत देशों में मोटी या ऊँची पैट। अन्यथा बर्फीली हवाएँ भीतर घुस जाएँ। ठंडे देशों में ठंडे पानी का उपयोग तक भयावह होता है। कागज से काम चलाना पड़ता है। रसोई में जूते नहीं खोलने पड़ें, इसलिए मेज़-कुरसियों की पद्धति रचनी पड़ी। खाने से गंदे जूते दूर। मैं टाई में क्राँस नहीं देखता, परिस्थितियाँ देखता हूँ। बर्फीली हवा सीने तक न घुस जाए, इसलिए गले को बाँध लिया। गलवस्त्र ढीला न रहे। सभ्यता तथा पद भी वस्त्रों की आवश्यकता रचते हैं। बटन कमीज के नहीं दीखे, उन्हें ढकने के पीछे टाई की लंबाई है। अन्यथा गले को बाँधने तक की पद्धति, जो कभी-कभी दिख जाती है, रह जाती है।

कमलेश्वर की बहू दोबारा आई, तब उतनी सजी-धजी नहीं थी, जितनी विवाह के समय आई थी, तब थी। पीहर जाकर जब-जब वह आई, उसके श्रृंगार में कमी आती गई; परंतु उसके आधिकारिक स्वभाव में वृद्धि होती चली गई। वह जरा-जरा-सी बात पर रोक-टोक करने लगी। इस गिलास से पानी क्यों पिया। यहाँ प्याला क्यों रख दिया। वहाँ आज ही चलेगा। कल तो हमें दूसरी जगह जाना है। ऐसी बातें स्वयं उपजाती और कमलेश्वर के या सास के हाँ न कहने पर झगड़ा हो जाता।

देवर था विश्वेश्वर। था तो बराबर जैसा ही, पर वह अपने को भाभी नहीं, उसका बड़ा भाई ही मानती और देवर को उसी अधिकार से आदेश देती। कभी-कभी सास ऐसे आदेशों पर टोकती, "तेरे बराबर का है, कम

बोला कर, करीने से बात किया कर।”

ज्ञान की बात भी अहंकार को बुरी लगती है। अहम् को चोट पहुँचाती है। बड़े बीच में आ जाते हैं तो कुंठाएँ जनमती हैं। धीरे-धीरे कुंठाएँ कलह में ढल जाती हैं।

कमलेश्वर की बहू की कलह के पीछे शायद यही बात थी। सास तो ऐसी थी कि बहू को पुतली पर बैठाए फिरती थी। ससुर ऐसे थे कि बेचारे बोलते तक नहीं थे। तुलसी ने मानस में सास कौशल्या को जैसा चित्रित किया है, ठीक वैसी ही कमलेश्वर की माँ थी। बहू के अहम् ने घर में कलह घुसा दी। कमलेश्वर कमाऊ लड़का था। माता-पिता बुढ़ा गए थे। कमलेश्वर पर ही टिके हुए थे। ऐसा तो नहीं था कि कमलेश्वर न खिलाए तो भूखों ही मर जाएँ। काश्त की जमीन खरीद ली थी। मकान था। उसका किराया आता था; लेकिन सभी को कमलेश्वर ने अपनी नौकरी के साथ सँभाल रखा था। घर में प्रेम भी बहुत था। विश्वास था। बड़ा लड़का था।

माता-पिता ने बड़ी मुश्किल से अपने को मुक्त हुआ देखा था। इसलिए सब कुछ कमलेश्वर पर छोड़कर प्रभु की ओर मुड़ गए थे। वानप्रस्थ जैसी स्थिति थी। यह ठीक है वानप्रस्थ का न तो अब समय है न वैसी परिस्थितियाँ हैं। उद्योगो ने नगरों को विशालता दे दी है। यंत्रो ने जीवन की सहजता नष्ट कर दी है। वन रहे भी कहाँ है। लकड़ी की माँग ने सारे वन काट डाले, पर्वत नंगे कर दिए। पेड़ लगाओ अभियान चलाना पड़ रहा है। पर पेड़ कितने लग पाते हैं। बरसात में लगते हैं, गरमी में सूख जाते हैं। गड्ढे सूने पड़े रह जाते हैं। इसलिए वे घर में ही वानप्रस्थ जीवन बिता रहे थे। सुबह उठते। उठते ही एक माला राम के नाम की फेरते। फिर नित्यकर्म से निपटते। नहाने के बाद माँ भरा लोटा और फूल लेकर शंकरजी पर जल चढ़ाने मंदिर जातीं। पिता घर के मंदिर में पूजा में बैठ जाते। सगुण साधक थे। निर्गुण साधना तो योगियों से ही संभव है। भारत में हर सनातनी सगुण है।

विवेकानंद सगुण साधना को भक्ति की प्रारंभिक स्थिति मानते थे। सभी योगी वैरागी हो नहीं सकते, इसलिए शेष सृष्टि को धार्मिक बनाए रखने के लिए प्रतीकात्मक मूर्तियों की संरचना हुई। मंदिरों का निर्माण

हुआ। पूजा पद्धति का प्रचलन किया गया ताकि व्यक्ति में धर्म-भीरुता बनी रहती है। वह अधर्म व अन्याय की ओर जाते घबराता है। इसका सामाजिक पक्ष धर्म से भी अधिक प्रबल है।

समाज-व्यवस्था के लिए मूर्ति और मंदिर की परिकल्पना बड़ी मनो-वैज्ञानिक है। इसमें मूर्ति का श्रृंगार है। पूजा है। आरती है। भव्यता है। दिव्यता है। इसलिए चित्ताकर्षक भी है। नीरस साधना आदमी को बाँधती नहीं है। निर्गुण साधना इसी कारण सार्वभौम नहीं हो पाई। इसके विपरीत मूर्तिपूजा सार्वभौम है। गिरजो ने ईसा को शूली पर चढ़ा दिखा दिया। मजारो पर दिए जल गए। यह मूर्तिपूजा का ही विस्तार है। कुछ भी हो, कमलेश्वर का परिवार सगुण उपासक है। पर्वों, त्योहारों, उत्सवों, जयंतियों से भरा आनंद का जीवन है।

कमलेश्वर की बहू ने रंग में भंग क्या कर दिया, सब परेशान थे। वह अकेली, सारा घर उसके विरुद्ध, पर वह निडर, क्योंकि आर्थिक कुंजी उसके पास थी। अर्थ की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति होती है। उसके बिना यंत्र जड़ है। उसके बिना जीवन शव है। अर्थ है तो यंत्र में गति है। पेट में रोटी है तो जीवन है। कमलेश्वर की बहू के हाथ में जब से अर्थ की चाबी आई थी, वह और भी निरंकुश हो गई। वह सब पर अपने प्रभुत्व को थोपती। अपनी इच्छानुसार उन्हें चलाने को विवश करती। सब दबे रहे; क्योंकि केवल अर्थ ही नहीं था, रोटी भी थी। वह नहीं बनाए तो पेट में क्या जाए। कहा जाता है कि बहू घर की मालकिन के साथ घर की सबसे बड़ी नौकरानी होती है। किंतु घर की मालकिन के लिए 'नौकरानी' शब्द सचमुच गलत है। नौकर पराए संकेत व प्रेरणा पर काम करता है, जबकि बहू अपना दायित्व समझकर स्व-प्रेरणा से काम करती है। इसलिए वह नौकरानी कभी नहीं होती। यह स्थिति तब आती है जब सास तेज-तर्रार होती है। बहू से नौकरानी की तरह काम लेती है। न करने पर डाँटती-डपटती है।

कमलेश्वर की माँ तो अल्लाह की गाय थी। कैसा मुहावरा बन गया है। अल्लाह के कभी गाय हो नहीं सकती, बकरी भले हो जाए; लेकिन सीधेपन के लिए लोगों ने कैसा मुहावरा घड़ लिया। मुझे लगता है इससे

समन्वयवाली भावना अधिक महत्त्वपूर्ण है। गाय हिंदुओं की प्रतीक है तो अल्लाह मुसलमानों का। इस देश में मुसलमान आए, वे अल्लाह को लाए। अल्लाह कृपालु है, दयालु है और गाय भी सीधी, सरल, दुग्धवती। दो कृपालुओं को मिलाकर दयालुता को विशालता दे दी, भाषा वैज्ञानिकों ने। कुछ भी हो, कमलेश्वर की माँ ने जितना निभ सका, निभाया। नहीं निभी, तब भी सहा। लेकिन जब विश्वेश्वर की बहू आ गई, रोटी बनाकर खिलानेवाली दूसरी मिल गई तो कमलेश्वर की बहू की कौन चिंता करता। उसका स्वभाव असह्य लगने लगा। उसका अहम् खाने दौड़ने लगा। कौन सहता ! दोनों बहुएँ बराबर के अधिकारवाली। विश्वेश्वर ने भी नौकरी कर ली थी। अर्थ-तंत्र की दो अधिकारिणियाँ हो गई थी। दोनों के हाथ में चावियाँ आ गई थीं।

कमलेश्वर और विश्वेश्वर दोनों भाई बड़े समझदार थे। औरतो की लड़ाई में नहीं बोलते थे। विश्वेश्वर बड़े भाई को पिता के तुल्य ही मानता था। कमलेश्वर का कहा उसने कभी नहीं टाला। खेती का काम हो या मकान की दुरुस्ती का -- दोनों की सलाह से होता। ऐसा नहीं कि दोनों बहुओं की लड़ाई से अनभिज्ञ हो, बड़ी बहू के तेवर से अपरिचित हों। घर की बढ़ती कलह को जानते हुए भी उन दोनों में कभी मनमुटाव नहीं रहा। मन-मुटाव होता भी वहाँ है, जब दोनों अपने को समान अधिकारोंवाला मानते हैं। जहाँ एक विनम्र, उदार तथा सहिष्णु होता है तो दूसरे को लड़ने का अवसर नहीं मिलता। विश्वेश्वर ऐसा ही था। इसलिए उसे कमलेश्वर से 'तू' कहने का अवसर ही कभी नहीं मिला। सदा सम्मान से उसने 'बड़े भैया' ही कहा। 'दहा' ही कहा। 'आप' ही कहा।

कमलेश्वर की बहू की कलहकारिणी प्रवृत्ति और बढ़ गई, जब विश्वेश्वर की बहू ने आकर उसे नकारना प्रारंभ किया, अपना स्व आरोपित करना चाहा। इसे वह अपने वर्चस्व पर उसका अतिक्रमण मानती थी। बढ़ते-बढ़ते स्थिति यहाँ तक आ गई कि दोनों का एक ही घर में रहना कठिन हो गया। कमलेश्वर समझदार था, वह अपने परिवार को लेकर अलग हो गया।

माता-पिता विश्वेश्वर के पास रहने लगे। विश्वेश्वर नहीं चाहता था

कि दोनो भाई अलग-अलग रहें। जन्म से साथ रहे थे। साथ खेले थे। साथ खाए-पिए थे; लेकिन परिस्थितियों ने दोनों को अलग कर दिया। व्यक्ति सोचता है ऐसा करने से वैसा हो जाएगा, वैसा करने से ऐसा हो जाएगा, लेकिन होता कुछ और ही है। मनुष्य का सोचा हुआ कब पूरा होता है ! यदि मनुष्य का सोचा हुआ पूरा होने लगे तो स्वप्न और कल्पना जैसे शब्द ही शब्दकोश से निकल जाएँ। कभी-कभी तो परिणाम मनुष्य के सोच के विपरीत हो जाता है। वह पछताता है। एक भूल के लिए जीवन-भर रोता है। भूल पछतावा देती है। ठोकरें खिलवा देती है। आदमी सोचता है मैं ऐसा नहीं करता तो ठीक रहता। पर परिणामों का पूर्वाभास किसे रहता है। फिर विवेक पर अविवेक, अज्ञान, रोष, क्रोध, परिताप हावी जो रहते हैं। वे स्थिर होकर विवेक को विचार करने ही कब देते हैं। अज्ञान का विवेक पर पड़ा हुआ यह आवरण ही संसार है। जिस दिन विवेक से अविवेक का यह आवरण हट जाएगा, उसी दिन ज्ञान की ज्योतिर्मय देह सामने आ खड़ी होगी। सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश होगा। भविष्य सामने खड़ा लगेगा।

परिस्थितियों ने दूरियों को बढ़ने के लिए और विवश कर दिया। छोटी बहन रेखा की शादी का प्रश्न आ गया। वह विवाह योग्य हो गई थी। विश्वेश्वर के पास ही रह रही थी। कमलेश्वर आर्थिक सहयोग करने के लिए सहमत भी हुआ, पर बहू ने उसे भड़का दिया, “हम जब अलग ही रह रहे हैं तो हमारा क्या वास्ता है। हमसे सहयोग के लिए कहा ही क्यों जा रहा है। क्या हमारे बच्चे नहीं हैं ? क्या इनका खर्चा वे उठाएँगे ?”

इन्हीं प्रश्नों ने कमलेश्वर को चाहकर भी रेखा के विवाह में सहयोग नहीं करने दिया।

माँ ने उसे समझाया भी, “देख, खेती की पैदावार तू ही लेता है। कई वर्षों में तूने कुछ नहीं दिया। आखिर पुरानी रकम है भी कितनी। विश्वेश्वर के भी खर्चे हैं। हमारा सारा बोझ वही उठा रहा है। तुझे सहयोग करना चाहिए।”

माँ के सामने तो वह ‘हाँ’ कर गया, परंतु घर पहुँचते ही पत्नी के प्रभाव में आ गया और मुकर गया।

विवाह तो हुआ ही, लेकिन असहयोग ने दोनों परिवारों के बीच बड़ी

दूरियां बढ़ा दीं। विवाह में वह आया तो, लेकिन शक्ल दिखाते-भर को। सभी ने इस सत्य को अहसास। सभी ने कमलेश्वर की इसके लिए बुराई भी करी। बाहरवाले तात्कालिक निर्णय दे देते हैं। भोगना तो उन्हें ही पड़ता है, जो संबंधित होते हैं। आपसी बोलचाल तक बंद हो गई। औरतों का आना-जाना बंद हो गया।

समय बीतता रहा। दूरियों के कुरकुरमुत्ते विवाद की रेवड़ियों पर बढ़ते रहे। पिताजी को अचानक लकवा मार गया। उनका दाहिना अंग, मुख से पाँव तक निष्प्राण हो गया। सेवा का अवसर था, लेकिन कमलेश्वर कुछ तो बढ़ी दूरियों और कुछ पत्नी की खर्चे में नहीं पड़ने की सलाह से आना चाहकर भी रुक गया। चिकित्सालय में विश्वेश्वर ने पिता को भर्ती करवाया। उनकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। महीने-भर तक वह चिकित्सालय में रहे। उसने नौकरी से अवकाश लिया। रकम ब्याज पर उधार निकलवाई, पर अपने पिता को रोगमुक्त करवाने में उसने कोई कोताही नहीं आने दी। ईश्वर की कृपा, उसकी समर्पित सेवा तथा सभी की शुभकामनाओं से पिता चलने-फिरने योग्य हो गए। विश्वेश्वर उन्हें घर पर लिवा लाया।

पिता के घर पर आने के बाद जो भी मिलने आता, पिता कमलेश्वर के व्यवहार व असहयोग की चर्चा करते नहीं चूकते। विश्वेश्वर की त्यागमयी सेवा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते। आगंतुक अतिथि अपने-अपने सुझाव देते। सभी तरह के लोग होते हैं। कोई कहता, “आपके पास जमीन है। आपके नाम है। मकान है। आप इन्हें विश्वेश्वर के नाम कर दें। यह आपकी सेवा कर रहा है।”

कोई यह भी सुझाव देता, “ऐसा नहीं करें। आपके लिए दोनों पुत्र समान हैं। उसकी भूल है जो ऐसा कर रहा है। नीच के साथ आप क्यों नीच हों। आप तो उदात्त भाव से दोनों को समान समझें।”

स्वाभाविक था पिता के गले पहला सुझाव उतरे, दूसरा नहीं। कई समर्थनों से वह भाव परिपक्व होते-होते विचार बन बैठा।

एक दिन पिता ने कमलेश्वर को उत्तराधिकार से वंचित करते हुए अपने खाते की समस्त भूमि तथा अपनी अन्य समस्त चल एवं अचल संपत्ति का उत्तराधिकारी विश्वेश्वर को घोषित करनेवाली वसीयत लिखवा डाली।

उसका पंजीयन करवा दिया।

कमलेश्वर की पत्नी ने जब यह सुना, तो वह आगबबूला हो गई। पति को कोसते हुए कहने लगी, “देख लिया न अपने पिता का प्रेम। मैं कहती थी तो कहते थे, पिता पिता ही हैं। प्रेम होता न, तो जायदाद एक लड़के को ही नहीं देते। उनके लिए दोनों बेटे बराबर होने चाहिए। मैं कहती थी तो आप लड़ते थे।”

कमलेश्वर मौन रहा। वह जानता था, जो कुछ हुआ है उसी के कारण हुआ है। न वह विवाद बढ़ाती, न अलग होने का प्रश्न आता। न इतनी सारी समस्याएँ खड़ी होती। लेकिन ये सब बातें कहकर अशांति को कौन आमंत्रित करे। उसे दुःख तो था लेकिन उसने यह कहकर पत्नी को संतुष्ट कर दिया, “विश्वेश्वर लिखावट को लिए रहे, जमीन तो अपने कब्जे में है। पैदावार का लाभ तो हम ही ले रहे हैं।”

विश्वेश्वर नहीं चाहता था कि पिता उसके पक्ष में ऐसी वसीयत करें। उसने वसीयत लिखे जाने के बाद भी भूमि को प्राप्त करने की कोई चेष्टा नहीं की। वह कमलेश्वर को अपना बड़ा भाई ही मानता था तथा उसे श्रद्धा से देखता था। उसके मन में ग्लानि थी कि अकारण बहुओं ने भाइयों के बीच खाई पैदा कर दी। वह बीच-बीच में कमलेश्वर के यहाँ हो आता था। भाभी से बतिया आता था। बच्चों को टॉफियाँ, फल आदि दे आता था। यह बात वह घर पर आकर बताता भी नहीं था। इसलिए किसी को इसका पता भी नहीं चलता था।

उन्ही दिनों दूरदर्शन पर ‘रामायण’ धारावाहिक आ रहा था। विश्वेश्वर जब भी राम का चरित्र, पिता की आज्ञाकारिता, सिंहासन के प्रति उनकी वितृष्णा, भाई भरत के प्रति उनकी सहिष्णुता देखता तब उसे लगता, व्यक्ति हो तो ऐसा हो। प्रेम हो तो ऐसा हो। क्षणिक स्वार्थ आदमी को अंधा बना देता है। भ्रातृत्व-भाव को नष्ट कर देता है। उसके मन में विचार आता, कमलेश्वर ने मेरे साथ भले ही असहयोग किया हो, भाभी ने भले ही हमें अलग कर दिया हो, लेकिन मैं अलग नहीं होऊँगा। मैं स्वार्थ के लिए बंधुत्व को बलि नहीं चढ़ाऊँगा। आखिर है तो हम सहोदर ही। आज स्वार्थ के लिए एक-दूसरे के शत्रु हो रहे हैं। पूंजी हमारे बीच लड़ाई

का कारण है। कृपणता हमारे बीच कलह का हेतु है। मैं इसे बीच में नहीं आने दूँगा। भले ही पिता ने संपत्ति मेरे नाम कर दी हो लेकिन मैं बराबर का विभाजन करके ही रहूँगा। भाई होकर भाई का गला काटने की सोचूँ, यह मनुष्यता नहीं है। दूसरो पर प्रतिदिन कितना खर्च करता हूँ। भाई पर एक रुपया भी खर्च करता हूँ तो सारा घर उसका हिसाब पूछता है। कितनी दूरियाँ इस व्यवहार ने हमारे बीच ला दी है। मैं इन्हें नहीं आने दूँगा। खाइयों को पाटने की चेष्टा करूँगा। ऐसे विचार उसके हृदय में आलोडित होते और उसकी मानसिकता को पुष्ट करते रहते।

पिता पर लकवे का दूसरा आक्रमण हुआ। वह उस प्रहार को नहीं सह सके। हंस देह को छोड़कर उड़ गया।

धू-धू कर चिता जल रही है। विश्वेश्वर जानता था भाभी के रोकने पर भी कमलेश्वर वहाँ अवश्य आएगा। वह वसीयत को अपने साथ ले गया। उसने निश्चय किया यदि कमलेश्वर वहाँ आया तो वह इस वसीयत को वही फाड़कर सभी को बता देगा कि विश्वेश्वर लोभी नहीं है, लालची नहीं है। दोगला नहीं है। स्वार्थ की शूली पर भ्रातृत्व को बलि चढ़ानेवाला नहीं है। एक सच्चा भाई है। चिता पूरी जलने को है। वह वसीयत का क्या करे? इसे यहाँ फाड़े या नहीं? वह यह भी सोचता है कि कमलेश्वर की अनुपस्थिति में इसे फाड़ने का कोई अर्थ नहीं है। वह यहाँ उसे नहीं फाड़ेगा।

तभी क्या देखता है, कमलेश्वर सिर नीचा किए, उदास मन वहाँ आ रहा है। बड़ा लडका होते हुए भी कमलेश्वर के वहाँ नहीं आने पर तरह-तरह की चर्चाएँ हो रही थीं। अर्थी को कंधा नहीं दिया, तो नहीं दिया, दाग में पिता को लकड़ी तो दे देता। उसके आने से प्रसन्नता की एक हलकी-सी सरसराहट फैल गई।

कमलेश्वर के आते ही विश्वेश्वर उसके पास गया। उसके सीने पर सिर धरकर रोने लगा। उपस्थित लोगों ने विश्वेश्वर की महत्ता की चर्चा करना प्रारंभ कर दिया। उसके सात्त्विक हृदय की प्रशंसा होने लगी। तभी चिता के पास खड़े लोगों में से एक वृद्ध ने कहा, “कपाल का समय आ गया है।” विश्वेश्वर कमलेश्वर को लेकर गया। दोनों ने कपालक्रिया की। चिता की परिक्रमा की। उपस्थित लोगों ने चंदन की लकड़ियाँ चिता को अर्पित की।

जाने का उपक्रम होने लगा, तभी विश्वेश्वर ने अपनी जेब से वसीयत निकाली और कहा, “सज्जनो, पिताजी ने अपनी संपत्ति मुझ अकेले के नाम वसीयत कर दी थी। मैं आज आप सबके सामने इसे फाड़कर चिता को समर्पित कर रहा हूँ।” यह कहते हुए उसने वसीयत फाड़कर चिता में फेंक दी।

दोनों भाई गले मिलकर फूट-फूटकर बहुत रोए।

बड़ी मछली

जब से मनोहरा के गर्भवती होने तथा होनेवाली संतति की चिंतना ने संपत्तिमल जैन के मन को कुरेदना प्रारंभ किया है, अप्रत्याशित रूप से अपरिग्रह के भाव ने, न केवल उसके मन में जन्म लिया है, अपितु उसकी सारी मादक अल्हड़ता, निश्चितता की उन्मुक्त मानसिकता को चुराकर संचय तथा निर्मिति की कल्पनाओं ने उसे अशांति के सागर में डुबो दिया है। आय के स्थायी एवं वृद्धिशील स्रोत के प्रबंध का विचार बिजली-सा जब बार-बार हृदयाकाश में कौंधने लगा, तो संपत्ति ने करोड़ी के साथ मिलकर एक अच्छा उद्योग लगाना तय किया।

संपत्ति ने उस निर्मिति में जैसे अपने को पूरी तरह डुबो दिया। यहाँ तक कि उसके जीवन का सारा समय-विभाजन ही बदल गया ! वह देर से कमरे पर पहुँचने लगा। सुबह भी जल्दी ही अपने नित्य नैमित्तिक कार्यों से निपट, बैग उठा निकल जाता। जब लौटता तो बिलकुल थका, उदास, टूटा-टूटा, पसीने से लथपथ, एक अजीब-सी थकान व मायूसी लिए हुए। चेहरे पर न वह प्रसन्नता, न वह तेज ही रहता।

मनोहरा, जो हमेशा संपत्ति के साथ छाया की तरह जुड़ी थी और एक क्षण का बिलगाव भी जिसे असह्य था, संपत्ति के इतनी-इतनी देर, दूर-दूर रहने, देर-देर से, थके हाल लौटने और दिन-भर कमरे के सूनपन से अकेले जूझते उकता गई थी। झुंझलाहट ने मन में कड़ुवाहट का जहर भर दिया था। प्रेम की गहराई का पानी सूख-सूखकर उथला लथपथ कीचड़ हो गया था।

एक दिन हो, दो दिन हो, संपत्ति की रोज-रोज की इस अवहेलना ने मनोहरा के मन में एक विषम तिक्तता भर दी थी। संपत्ति के आने पर अब वह न तो पहले की भाँति दौड़कर प्रफुल्ल हृदय से द्वार पर उसका स्वागत

करती, न उसकी आँखों में आनंद के लाल-लाल डोरे ही झूलते दीखते।

एक दिन उसने पूछ ही लिया, “तुम्हें यह क्या हो गया है संपत्ति बाबू ? दिन-दिन-भर कहाँ रहने लगे हो ? किसी से आँख तो नहीं लड़ गई ?”

संपत्ति कुछ नहीं बोला। वह बोलती रही, “फुकने से जब हवा निकल जाती है तो वह पिचक जाता है। उसमें न वह सौंदर्य रहता है न हलका-पन। न जाने कैसा लुगलुगा, लिजलिजा...।”

संपत्ति कोई उत्तर न देकर बीच ही में कहता, “आओ चलें, कहीं घूम आएँ।”

संपत्ति यह बात मन से नहीं, विवशता से कह रहा है, यह बात मनोहरा के लिए अजानी नहीं थी। वह उत्तर देती, “नहीं। यह भी कोई घूमने जाने का समय है।” वह नहीं जाती।

संपत्ति ने अपनी संपूर्ण शक्ति व समय लगाकर फैक्टरी खड़ी कर ली है। वह प्रसन्न है, पर मनोहरा संपत्ति की विरति से कुढ़ चुकी है। उसका सारा प्यार व प्रेमिल स्वभाव न जाने कहाँ तिरोहित हो गया है। उसे जहाँ उस कमरे का एक-एक क्षण उमंग व उत्साह से भरा, मीठा व उन्मादी लगता था, अब भारी जहर-बुझा व कड़ुवा-कड़ुवा लगने लगा है।

आज वह संपत्ति की बेचैनी से प्रतीक्षा कर रही है। कब संपत्ति लौटे और कब वह अपने क्रोध का घड़ा उस पर पूरी तरह से उलीचे। क्रोध का ज्वार आकाश छू रहा है। वह सोचती है जब संपत्ति मुझे चाहता ही नहीं तो मेरा उसके साथ रहना व्यर्थ है। मुझे चले जाना चाहिए। संपत्ति सच में केवल मेरे रूप-यौवन का भूखा था। आज जब वह भर गई तो उसने उसे शराब की रीती बोतल की तरह एक ओर फेंक दिया। संपत्ति की आँखों में अब न वह प्यार की मादकता है, न अधरो पर स्मिति की मदिरता। मस्ती का वह मद-भरा आलम कपूर हो गया है। उसने मेरे साथ छल किया है। अब मैं यहाँ नहीं रहूँगी। अनायास उसके मुँह से फूट पड़ता, “धोखेबाज, छलिया, कपटी।”

उसे कमरे का कोना-कोना काटने लगा। उसे और अधिक प्रतीक्षा असह्य हो गई। उसने तय कर लिया वह अब वहाँ नहीं रहेगी, और इसी निश्चय के साथ वह अपने वस्त्र सहेजने लग गई। दूर, कहीं दूर चले जाने के

लिए सूटकेस तैयार करते उसे देर नहीं लगी। जब वह कपड़े रख रही थी, तब उसके बदन में इतनी स्फूर्ति थी मानो किसी स्वचालित मशीन का यंत्र कार्यरत हो। खूँखवार सिंहनी-सी उसकी लाल-लाल आँखें बाहर निकल आई थीं।

संपत्ति ऊपर आए, उसके पहले तो मनोहरा ने अपना सूटकेस उठा लिया। वह कमरे की देहरी पर पैर रखे, उसके पहले तो उसने निकल जाने के लिए डग बढ़ा दिए।

“अरे, यह क्या? कहाँ जा रही हो?” संपत्ति ने अपना बैग एक ओर फेंक दोनों हाथों से उसे बैठाने का यत्न करते हुए कहा। पर वह बैठी नहीं।

“नहीं-नहीं, अब मैं यहाँ नहीं रह सकती।” आगे बढ़ने का यत्न करते हुए मनोहरा ने कहा।

“ठहरो भी, यह तुम्हें क्या हो गया है? कैसी बहकी-बहकी बातें करने लगी हो? क्या मैंने तुम्हें अपनी संपूर्णता से प्यार नहीं किया है?” सूटकेस छीनते हुए संपत्ति ने कहा।

“किया था कभी। अब वह कहाँ है? बड़ी मछली छोटी मछली को निगल गई।”

“बड़ी मछली से तुम्हारा तात्पर्य? मैं समझ नहीं सका।” पैट की जेब से रुमाल निकालकर पसीना पोंछते हुए संपत्ति ने पूछा।

“तुम्हारी कही और व्यस्तता। मेरे लिए अब तुम्हारे पास समय कहाँ?” मनोहरा ने अपने को छुड़ाकर आगे बढ़ते हुए कहा।

“झूठ। बिलकुल झूठ। बैठो भी।” दोनों हाथों से धकेलते हुए उसने मनोहरा को बैठाया।

“देखो, मैं तुम्हारे लिए कितना कुछ लाया हूँ।” और बैग की चेन खींच ली। उसमें से नोटों की ढेर सारी गड्ढियाँ निकाली, “देखो, मेरी फैंक्टरी की पहली आय।”

“नोटों की गड्ढियाँ दिखाकर अब मुझे अधिक मूर्ख नहीं बना सकते। मैं जाती हूँ।” मनोहरा ने अपना सूटकेस उठाते हुए कहा।

“तुम मुझे गलत समझ रही हो, मनो। ठहरो, थोड़ा सुनो तो।” मनोहरा की कलाई पकड़कर बैठाते हुए संपत्ति ने कहा।

“मुझे सुनाने के लिए तुम्हारे पास अब समय कहाँ ? बड़ी मछलियों ने तुम्हें समय मिले तो।”

“फिर वही, मैं बड़ी मछली का अर्थ नहीं समझ पा रहा। मुझ पर तुम्हारा मदेह गलत है मनो, मानो तो। हमारे बीच कोई तीसरा नहीं। कोई नहीं। तुम्हें मेरी कसम है, रुको मनो, रुको।”

“और कोई न हो, तुम्हारी यह व्यावसायिकता तो है। कुबेर, बस कुबेर बनने की धुन।”

“यह तो हर आदमी को अपने अस्तित्व के लिए करना ही पड़ता है, मनो। इसमें नई बात क्या है ?”

“यह तुम्हारा अस्तित्ववादी दर्शन प्रणय के द्वार पर अब मात्र औपचारिकता बनकर रह गया है।”

“लेकिन यह सब मैं तुम्हारे लिए ही तो कर रहा हूँ मनो, तुम इतना क्यों नहीं समझती। अब तुम बच्चे की माँ बननेवाली हो। तुम्हारे होनेवाले राजा बाबू के लिए कोई छोटा-मोटा निजी बँगला होना चाहिए, जिसके हरे-हरे लॉन पर वह हुमुक-हुमुक चल सके। अवकाश के क्षणों में लोरी दे-देकर झूलाने के लिए बरामदे में झूलता हुआ कोई धातुमंडित रंग-बिरंगा झूला होना चाहिए। तुम्हारे राजकुमार को सजाने-सँवारने के लिए ढेर सारे तरह-तरह के सिले हुए वस्त्र होने चाहिए। यह सब बिना संचित पूँजी के कैसे संभव हो सकता है ? लो, इन रूपयों को रखो और फिर थोड़ा ठंडे मस्तिष्क से सोचो।”

“सोच लिया, बहुत सोच लिया। स्त्री स्वर्णाभूषणों को नहीं, तिजोरियों में थप्पी लगी नोटों की गड्डियों को नहीं, आलीशान बँगलों को नहीं, एक जिंदादिल आदमी को प्यार करती है—अपने पूरे आदिम परिवेश में। प्रकृति की गोद में हरिणों-सा उन्मुक्त खेलता तुम्हारा तेवर और आकाश के नीचे खुली धरती पर हवाओं से लिपट खेलता मिजाज अब कहाँ है ?”

“इसमें सच्चाई हो सकती है, पर मुझे याद नहीं आता, मैंने तुम्हें कभी नकारा हो। हम हर रात साथ ही तो...।”

“व्यस्तता में तुम्हारी ग्रीवा ऊँची उठे तब तो। अब तुम्हें इसका भावार्थ

भी बताना पड़ेगा कि स्त्री पुरुष के पास उसके अकेलेपन में किसलिए आती है। आज तुम्हारे पास मेरे लिए समय नहीं। फिर मैं यहाँ किसलिए रहूँ... किसलिए रहूँ...?”

चट...चट, सट...सट, खट...खट...खट...। मनोहरा घायल हरिणी-सी अस्त-व्यस्त, ललाट पर सलवटो का अंबार, शर्वती आँखों में शराबी क्रोध की लाल झाँई, गौरवर्ण गेहुएँ कपोलो पर उभर आई गुलाबी रक्तिमा लिए, झटपट सीढ़ियों से नीचे उतर आई। संपत्तिमल जैन नंगे पाँव उसके पीछे उतरे, लपके। मनोहरा लॉन पार करे, इससे पूर्व तो सर्पत्ति ने आकर मनो का हाथ ही थाम लिया।

“रुको, मेरी अच्छी मनो, रुको। तुम्हें मेरी सौगंध है, रुको।” संपत्ति ने निरीह याचना के भाव से घिघियाते हुए कहा।

“मुझे ये औपचारिकताएँ पसंद नहीं, प्यार का एक निश्चल क्षण, बस एक कृत्रिम क्षण हूँ, और कुछ नहीं। पर वह तुम्हारे पास नहीं है।”

“चलो, ऊपर चलें। पड़ोसी हमारी ओर देखने लगे हैं। यह हमारी प्रतिष्ठा का प्रश्न है। चलो, ऊपर चलो।” संपत्ति हाथ पकड़कर मनोहरा को ऊपर ले गया।

मनोहरा ऊपर पहुँचते ही धम्म के साथ अपने वेड के फॉमवाले गद्दे पर लुढ़क गई। संपत्ति फॉम पर कूल्हे के बल बैठकर मनो के शरीर में सट गया। मनो की आँखें आज पहली बार आँसुओं से भर आईं। वह बोलना तो बहुत चाहती थी, पर हठात् अधर तक शब्द आते और बलात् कंठ में जा निरोहित हो जाते। संपत्ति ने अपनी दाहिनी तर्जनी से उसके बहते हुए आँसुओं को पोंछते हुए अपना मुँह ठीक इस तरह ऊपर कर लिया मानो वह मनो के मुखरूपी दर्पण में अपना प्रतिबिंब देख रहा हो, अधर अधरों के ऊपर परंतुस्पर्श से भयभीत। परस्पर की गरम श्वासों का आलिगन किंतु असवेदित, चेतनाशून्य, निस्पंद।

क्षण का मौन तोड़ते हुए संपत्ति ने कहा, “मनो, तुमने मुझे बिलकुल गलत समझा है। हम जीवन में आज भी उसी उन्मुक्त निबंधता के हामी हैं, जिसके कल थे। बताओ, तुम्हारे-मेरे बीच अभी कोई दूरी है? मैं वह दिन नहीं भूला हूँ, जब तुम भी सागर-स्नान करने आई थी और मैं भी। वह

कौन-सा क्षण था जिसने हमें निकट ला दिया ? कौन-सी अज्ञात प्रेरणा थी जिसने तुम्हें और मुझे निकट आने के लिए प्रेरित किया ? तुम अकेली थीं । मैं अकेला था । तुम अनजान, मैं अनजाना । पर सागर-स्नान करते, पानी में तैरते, न जाने कब हम निकट आ गए और टकरा गए । तुम्हारी कोमल देह का स्पर्श रोम-रोम में एक जादू-सा भर गया । मन बार-बार रगड़ खाने को अकुलाने लगा, तुमने खड़े होकर एक बार मुझे घूरकर देखा था और उपेक्षा का 'ऊँह' कह मुँह को कैसा झटकाया था । वह झटका मेरी कामना पर वज्राघात था, तुषारापात था, पर जब हम कपड़े बदल रहे थे, तब हवा ने तुम्हारी जँवाओं को ढँकता तौलिया ऐसे उड़ा दिया जैसे कोई बालक आवरण-बोध से अनभिज्ञ अपनी माँ के अधोवस्त्र को हटा दे । तब तुम स्वयं भी अपनी मोटी-मोटी आँखों से मेरी ओर तब तक देखती रही थीं जब तक मैंने तुम्हारी आँखों में आँखे नहीं डाल दीं । तब तुम धीमे से मुसकराई थीं । मुझे आज भी वह गुलाबी मुसकान स्मरण है । हम कपड़े पहनकर निपटे, इससे पहले तो मैं पूछ बैठा था, 'आप कहाँ रहती है ?' तुमने उसी तरह जैसे शकुंतला ने पगशूल निकालने के बहाने मंद मुसकान के साथ दुष्यंत को मुड़कर देखा था--थँले में कपड़े जमाते, काँख के नीचे से दृष्टि फेंकते हुए मुसकान के साथ मुझे देखा अधिक था, उत्तर तो बहाना भर था । हम साथ-साथ चलने लगे थे । धूप का मजा लेने के लिए, कुछ देर एकांत में पड़ी बेंच पर हम बैठ गए थे । और उसी दिन हम इतने निकट आ गए थे, जितनी कोई दुलहन फेरों में साथ बँधते समय ।

"हम कितनी बार सिनेमागृहों में मिले । कितनी देर रात तक रेस्तराओं में गुजारते रहे । हमें कहीं कोई चिंता नहीं थी । दूर पहाड़ी एकांत अँधेरों में ही नहीं, सरकारी पार्कों की हरी दूबवाले लॉन तक पर हमने जीवन को खुलकर जिया ही नहीं, पूरी तरह खुले आसमान के नीचे भोगा भी । न भाँवर, न उपदेश, न प्रतिज्ञा, न अग्नि, न हवन । हमारा मिलन, तुम्हारा समर्पण, बस यही औपचारिकता थी । मनो, मैं तुम्हारे उन शब्दों को भूला नहीं हूँ, तब तुम कहती थी, 'प्रेम अपने आदिम परिवेश में जीकर ही विकास की पूर्णता अर्जित करता है । पारिवारिक परिवेश उसे औपचारिकता में बदल देता है ।' मेरी अच्छी मनो, मैं मानता हूँ प्रेम उस समय मर जाता है,

जब आदमी औरत को हरम के पलंग के पाए से जड़ देता है। औरत को औरत की तरह नहीं पत्नी की भाववाचक संज्ञा प्रदान कर उसे अपने बुर्जुआ इशारों पर जीने के लिए विवश करता है। मैंने तब भी कोई संकोच नहीं किया था, तो मनो, सोचो, क्या मैं अब संकोच करूँगा ?”

प्रश्न बड़ा सार्थक था। मनो की अधमुँदी आँखें खुलीं। उसने दृष्टि भरकर संपत्ति को देखा। उसे लगा मैं ही गलती पर हूँ, संपत्ति ठीक है। क्रोध का ज्वार उतरता गया, मुख की दूरी घटती गई। हँसी खिलती रही। बात बढ़ती रही।

“आप सचमुच मुझे इतना ही चाहते हैं ?” मनो ने मुसकराते हुए पूछा।

“इसमें कोई संदेह है ?” संपत्ति ने उत्तर दिया, “तुम शायद भूल गई। वह कौन-सी घटना थी जिसने हमें यहाँ ला दिया ? हमारे निकट आने के उपक्रमों की आवश्यकता पर पूर्ण विराम लगा दिया। हम इस किराए के बैंगले के एक कमरे में होकर यही रहने लगे।”

“याद है। तुमने मुझे टैक्सीवाले से छुड़ाया था।” मनो ने कहा।

“वह भी कैसा सेंसेशनल क्षण था। तुम्हारे पिताजी के एक्सीडेंट की झूठी खबर देकर टैक्सीवाला तुम्हें गंतव्य से आगे ले जा रहा था। तुम उसके पाप को समझ गई थी। चिल्ला रही थी। उसकी एबेसेडर हवा से बाते कर रही थी। सौभाग्य से मैं उस सड़क पर आता हुआ मिल गया—भागती हुई गाड़ी में मेरी दृष्टि तुम पर, तुम्हारी मुझ पर पड़ी। तुम मुझे ‘संपत्ति’ कहकर चिल्ली उठी। मैंने स्कूटर मोड़ लिया। गाड़ी का पीछा करता रहा, पीछा करता रहा। यह दैव-योग ही था कि रेलवे क्रॉसिंग पर फाटक बंद था। उसने एबेसेडर जल्दी से ऊबड़-खाबड़ चट्टानी ढलान पर से उतारनी चाही, पर वह उलट गई और तुम खिड़की से निकल दूर पड़ गई। जब तक वह तुम्हें उठाए मैं पहुँच गया। कितना घमासान द्वंद्व हुआ था हममें। तुम्हें मालूम है ?”

“सब जानती हूँ। मुझसे क्या छिपा है। तुम्हारी उस जिंदादिली ने ही तो हमें घर बनाकर रहने को विवश किया था। तब तक हम मित्र थे, सहपाठी थे। उसके बाद मन न जाने क्यों अपने-आप समर्पित-सा किसी मधुर बोझ से दबा रहने लगा था। मैं यों कहूँ तो अन्यथा नहीं होगा कि मन

मे एक पत्नी-भाव-सा जगा था। कह नहीं सकती यह कैसे हुआ। क्या पत्नी-भाव नारी की अपनी दुर्बलता है?” मनो ने पूछा।

संपत्ति ने त्वरित उत्तर दिया, “यह दुर्बलता नहीं, जीवन का सत्य है।” और यह कहते हुए अपने पति होने के अहम् का एक दीर्घ चुंबन जड़ दिया। क्रोध की सभी परतें न जाने कहाँ विलुप्त हो गईं। मन सहज हो गया।

तभी सीढ़ियों पर खट्-खट की ध्वनि हुई। कोई आ रहा था। संपत्ति उठा। दरवाजे तक आया। मनोहरा वैसी ही लेटी रही। वह डाकिया था। तार लाया था। उसमें मनोहरा के भाई ने मनोहरा के जन्म-दिन की बधाई भेजी थी।

“अरे, आज तो तुम्हारा जन्म-दिन है—बधाई।” संपत्ति ने कहा।

“किसका तार है?” लेटे हुए ही मनोहरा ने पूछा।

“मनोज का।”

“सच?”

मनोहरा झटके के साथ उठ बैठी। संपत्ति उसी से सटकर बैठा था। मनोहरा ने तार को पढ़ा, “अरे, मैं तो भूल ही गई थी।”

“तुम भूल गई तो क्या हुआ—हम तो नहीं भूले,” यह कहते हुए संपत्ति ने निकट खींचते हुए आँखों में आँखें डालकर मनो को सीने से लगा लिया, “अब हम जी भरकर बर्थडे मनाएँगे, ठीक उसी आदिम परिवेश में।”

“ऊँ हूँ! नही, नही,” कहते-कहते मनोहरा फॉम पर दुलकती दूसरे छोर तक जा पहुँची थी।

मोहभंग

महानगर। एक विशाल-सा बँगला। बाहर बड़ा-सा बार्ड। भीतर कोने का एक कमरा, जिसमें जमी है, सीढ़ी-दर-सीढ़ी पुस्तकें-ही-पुस्तकें। बीच में सनमाइका की मेज, गोदरेज की घुमावदार कुर्सी, जिस पर बैठे हैं वकील साहब। हिंदी के अधिवक्ता और अंग्रेजी के एडवोकेट श्री विश्वेन्द्रनारायण प्रसाद सिंह काली हाँड़ी।

वकील साहब का जितना बड़ा नाम है, ख्याति में भी वह इतने ही बड़े हैं। क्या हुआ नाटे हैं, भारी हैं; किंतु स्वभाव मक्खन-सा मृदु। वाणी वणी-सी मोहक और ज्ञान साक्षात् गणेश-सा। वकील साहब के काम का चमत्कार इतना कि दूर-दूर से अभिभाषणार्थी उनके पास आते रहते हैं। रविवार को छोड़कर कमरे में अभिभाषणार्थियों की भीड़ बनी ही रहती है।

रविवार अवकाश का दिन होता है। वकील साहब उस दिन कोई आए तभी बाहर आते हैं। बुलाने के लिए बरामदे में घंटी का बटन लगा है।

एक रविवार को चाय पीते समय, दूसरे शब्दों में दूरदर्शन पर 'महा-भारत' के समय अचानक घंटी बजी। वकील साहब ने सिर पीटा, बच्चों ने पैर पटके। वकीलिनी ने भी हैं तरेरी, कैसा मनहूस है, खुद महाभारत नहीं देखता, दूसरों को भी शांति से नहीं देखने देता।

“चंदन, जाकर कह दे, बैठिए, वकील साहब आते हैं।” उन्होंने नौकर से कहा।

चंदन बाहर आए उससे पहले ही मुरारीलाल वहीं रखी बेच पर बैठ गया, क्योंकि उसने जो कुछ वकीलिनी ने कहा था, वह सुन लिया था। चंदन ने किवाड़ खोलकर फिर भी दोहराया, “बैठिए, वकील साहब आते हैं।”

पूरे पौन घंटे बाद वकील साहब बाहर आए, 'महाभारत' पूरा देखकर। कुर्ता, पाजामा, पैरों में स्लीपर। आँखों पर चश्मा पहने। मुरारीलाल के

चेहरे पर कोई सल नहीं था। न कोई व्यथा। वृद्ध-सा आधा-अधूरा। यही कोई ६५-७० के बीच। किंतु शरीर से अधिक जर्जर नहीं, कुछ स्वस्थ ही। आयु में वकील साहब से कम-से-कम १५ वर्ष अधिक। इसलिए वकील साहब ने ससम्मान कहा, “कहिए, क्या बात है?”

“आपके पास आया हूँ।”

“कोई केस है?”

“हाँ। कहीं बैठिए।”

वकील साहब ने कार्यालय खोला। अपनी कुर्सी पर बैठ गए। मुरारीलाल की प्रतीक्षा करने लगे कि वह आए। मुरारीलाल वकील साहब के आह्वान-शब्द सुनने के लिए व्यग्र था।

“हाँ, आइए न। वही रुक गए क्या?”

“नहीं, सोच रहा था, भीतर बिना बुलाए कैसे प्रवेश करूँ?”

“अरे भाई, कार्यालय में भी बुलाने की आवश्यकता होती है क्या? कहिए, क्या केस है?”

“वकील साहब, फीस आप जो चाहें ले लें, लेकिन बच्चा मेरे पास ही रहे।”

“कौन-सा बच्चा? आपके इस आयु में भी बच्चों का क्रम चल रहा है क्या?”

“जी मेरा नहीं, मेरे लड़के का लड़का।”

“उसे आपसे कौन छीन रहा है?”

“उसका बाप।”

“तो क्या वह आपके पास नहीं रहता?”

“वह साथ रहता तो बात ही क्या थी। वह विस्तार योजना के किराए के नए फ्लैट में चला गया, तभी तो यह प्रश्न आया है।”

“बच्चा कितना बड़ा है?”

“५ वर्ष का।”

“बच्चे की माँ कहाँ रहती है?”

“वह अपने पति के साथ ही है। उसके एक लड़का और हो गया है। ढाई-तीन साल का होगा।”

“इससे क्या ? यह भी तो अभी बच्चा ही है। जब तक बच्चा है तब तक माँ ही संरक्षक है।”

“वकील साहब, कैसे भी हो, बच्चा मैं नहीं दूंगा। मैं इसीलिए आपको वकील करने आया हूँ। मैंने आपका बड़ा नाम सुना है।”

“आपका नाम ?”

“मुरारीलाल शर्मा।”

“कोई काम करते हैं ?”

“नहीं, दिन-भर बच्चे के साथ खेलना-खिलाना, बस यही काम है।”

“फिर आपका खर्च कैसे चलता है ?”

“कोई कमी नहीं। लड़का कुवैत से काफी रुपया लाया है।”

“आप तो कह रहे थे लड़का यही विस्तार योजना में किराए के फ्लैट में रहता है।”

“वह तो अब रहने लगा है।”

“कब से ?”

“यही कोई महीने-भर से। कह रहा था लड़के को ले जाऊँगा।”

“तो भेज दीजिएगा। नगर के नगर में क्या कठिनाई है ?”

“वकील साहब, भेज देता तो फिर आपको वकील करने ही क्यों आता ?”

“तो फिर आप वहीं चले जाएँ।”

“घर का मकान छोड़कर किराए के मकान में कैसे चला जाऊँ ?”

“तो फिर लड़के को अपने मकान में ही क्यों नहीं रख लिया ?”

“कुवैत की हवा क्या लग गई, अब उसे बाप-दादाओं का मकान अच्छा नहीं लगता, जिसमें छोटे से बड़ा हुआ।”

“मकान पुरानी बस्ती में होगा ?”

“है तो वही, लेकिन साहब, दो मंजिला मकान है। पक्का बना हुआ है। कहता है वह इस मकान में नहीं रह सकता है। आते ही किराए का मकान लेकर दोनों जने चले गए। महीना-भर हो गया। कहता है, अब लड़के को भी ले जाऊँगा। मैं बच्चे को नहीं दे सकता।”

“तो आप बच्चे का क्या करेगे ? बच्चे का पालना कोई आसान काम

थोड़े ही है।”

“ढाई साल से पाल जो रहा हूँ। वकील साहब, बच्चे के बिना एक मिनट अकेला नहीं रह सकता। बच्चे में मेरा जीव पड़ गया है। मैं इस उम्र में भी उसके साथ बच्चा हो जाता हूँ। दौड़ता-भागता हूँ, खेलता हूँ।”

“ठीक है, ढाई साल खेल लिए। अब माता-पिता आ गए हैं। बच्चे को स्कूल में रखना चाहेंगे। अच्छे मकान में रहना चाहते हैं तो उन्हें रहने दीजिए। बच्चे की पढ़ाई-लिखाई का समय आ गया है। वे किसी अच्छे स्कूल में उसे पढ़ाएँगे।”

“फिर वही वकील साहब ! आप तो उपदेश देने लगे। यदि मैं बच्चे को अपने से अलग कर सकता तो आपको वकील करने के लिए ही क्यों आता?”

“मुरारीलाल जी, आप मुझसे आयु में काफी बड़े हैं। आपको कैसे समझाऊँ कि बच्चे के वास्तविक संरक्षक उसके माता-पिता होते हैं और यदि वे बच्चे को अपने पास रखना चाहते हैं तो कोई कानून नहीं रोक सकता। बच्चा उन्हें ही मिलेगा। आप समझदार हैं। जरा समझदारी से काम लीजिए।”

“वकील साहब, आप मेरी पीड़ा को नहीं समझ सकते हैं। महीने-भर से जब से वह विस्तार योजना के मकान में गया है और बच्चे को ले जाने की बात कही है तब से मुझे ब्लड प्रेशर हो गया है। मैं रुग्ण हो गया हूँ। यदि बच्चा मुझसे अलग हो गया तो मैं मर जाऊँगा। मैं उसके बिना जिंदा नहीं रह सकता। किसी भी कीमत पर बच्चा मुझे मिलना चाहिए, वकील साहब ! फीस जितनी चाहें ले लें।”

श्री विश्वेन्द्रनारायण प्रसाद सिंह एक चतुर वकील थे। मुरारीलाल की मानसिक स्थिति को समझते उन्हें देर नहीं लगी। वह जान गए कि मोहा-धक्का के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बच्चे के लिए कोई आवेदन लगाया भी तो वह चलनेवाला नहीं है। प्रस्तुति के साथ ही निरस्त हो जाएगा। न्यायालय के सामने मुझे नीचा और देखना पड़ेगा। सोचने लगे कि करें तो क्या करें ?

“वकील साहब, आप नहीं कर सकें तो जाऊँ?”

“जाएँगे कहाँ?”

“किसी और वकील के पास।”

“सभी वकील आपको एक ही सलाह देंगे।”

“यहाँ नहीं तो मैं कटक जाऊँगा, दिल्ली जाऊँगा। बच्चा किसी भी अवस्था में नहीं दूँगा। मैं बच्चे के बिना नहीं रह सकता। बच्चे को मैंने बच्चा बनकर पाला है। मुझे अपने चारों ओर वही-वही दिखाई देता है। उसका खेलता, हँसता चेहरा चौबीसों घंटे मेरी आँखों के सामने रहता है।”

“मुरारीलाल जी, एक-न-एक दिन तो आपको बच्चे को अलग करना ही पड़ेगा।”

“तब किसने देखा है, वकील साहब। प्रश्न आज का है। अभी का है। मेरा लड़का अपने बच्चे को ले जाने की जिद कर रहा है। मैं बच्चे को नहीं भेजूँगा। उसे रुकवाइए, वकील साहब!”

श्री विश्वेन्द्रनारायण प्रसाद सिंह ने देखा कि मुरारीलाल इतनी आसानी से अपनी जिद नहीं छोड़नेवाला है। उन्होंने इधर-उधर की बातों में उन्हें समझाने का यत्न किया।

“आप भी मुरारीलाल जी, किस मोहजाल में उलझे हैं। यह आयु तो मोहजाल को छोड़कर वानप्रस्थ में रहने की है।”

“वकील साहब, मुझे उपदेश अच्छे नहीं लगते। ऐसी बातें सुनकर मेरा हृदय धक्-धक् करने लगता है। मुझे यही कुछ न हो जाए।”

“आपके पास तो मुप्रसिद्ध वैष्णव मंदिर है। वहाँ दर्शन करने नहीं जाते? अपना मन भगवान् में लगाओ।”

“वकील साहब, भगवान् में ही मन लगता होता तो मैं आपके पास आता ही क्यों?”

“मुरारीलाल जी, प्रारंभ में हमें ऐसा ही लगता है, लेकिन धीरे-धीरे अभ्यास से सब हो जाता है। आप आठों पहर वहाँ दर्शन करने जाइए। थोड़े दिनों के बाद आप देखेंगे कि आपको मंदिर जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं अच्छा लगेगा।”

“वकील साहब, मैं आपको वकील करने आया हूँ, उपदेश सुनने नहीं। बच्चा मेरे पास से नहीं जाना चाहिए।”

“मुरारीलाल जी, आप मेरी बात मानिए। कल से ही मंदिर पर दर्शन

के लिए जाना प्रारंभ कर दीजिए। मोह को मिटानेवाली केवल भक्ति ही है। आपके मोह की और कोई ओषधि नहीं। किसी न्यायालय में इसकी सुनवाई नहीं होगी। भक्ति से ही आपका मन बच्चे से हटेगा।”

“मन किसे हटाना है, वकील साहब? आप गलत सोच रहे हैं।”

डॉ० अचलेश्वर मुरारीलाल जी का पुत्र है। मुरारीलाल जी ने अपना काफी पैसा लगाकर अचलेश्वर को डॉक्टर बनाया है। कुछ दिनों की राजकीय सेवा के बाद ही कुवैत का आकर्षक निमंत्रण डॉ० अचलेश्वर ने स्वीकार कर लिया और वह जाते समय बच्चे को मुरारीलाल जी के पास छोड़ गया था। मुरारीलाल को अचलेश्वर का विदेश जाना पसंद नहीं था, परंतु जब उसने उन्हें वहाँ भारी वेतन व भौतिक सुविधाओं का इंद्रजाल बताया तो वह मान गए।

बच्चे को सच में उन्होंने ही अपना समय व्यतीत करने के बहाने रखना चाहा था, जिसे अचलेश्वर ने स्वीकार कर लिया था। मुरारीलाल जी बच्चे में अचलेश्वर का ही बालपन देख रहे थे। वैसे भी बच्चा पिता का प्रतिरूप होता है। एक ही आत्मा का विस्तार जो होता है। इसलिए मुरारीलाल का बच्चे के मोहजाल में उलझना कोई अस्वाभाविक नहीं था। यह आत्मा का आत्मा से ही मिलन था भौतिक धरातल पर।

मुरारीलाल जी बच्चे को विस्तार योजना के मकान में ले जाने की अचलेश्वर की माँग को अनुचित मानते थे। जब बच्चा ढाई साल उनके पास रह सकता है तो आगे क्यों नहीं रह सकता? जब अचलेश्वर उनके पास रहकर डॉक्टर बन सकता है तो बच्चा क्यों नहीं? बच्चे की माँग को वह अचलेश्वर की धृष्टता मात्र मानते थे। अनाप-शनाप कमाए धन के दुरभिमान के अतिरिक्त वह उस माँग के पीछे कोई बल नहीं देखते थे। वह इस अन्यायपूर्ण माँग के आगे झुकना नहीं चाहते थे। इसे वह अपने प्रेम पर करारी चोट मानते थे। अपने ममत्व का तिरस्कार समझते थे। इसलिए उन्होंने वकील कर उस अन्याय का प्रतिरोध करने का निश्चय किया था।

मुरारीलाल जी वकील साहब के भक्ति-दर्शन से क्षुब्ध हुए जा रहे थे। मन-ही-मन घुट रहे थे, ‘मैं उपदेश सुनने नहीं वकील बनाने आया था। ये मुझे भक्ति का पाठ पढ़ाते चले जा रहे हैं।’

लेकिन एक तो मुरारीलाल वकील के कार्यालय में बैठे होने से, दूसरे अपने ज्ञान से, उस क्रोध को पी रहे थे। उन्हें भक्ति की बात अच्छी न लग रही थी। उसे वह मन-ही-मन स्वीकार भी कर रहे थे। लेकिन भक्ति से बलवान बच्चे के मोह के आगे वे हतप्रभ थे। वह अचलेश्वर की धृष्टता को मजा चखाना चाहते थे। यह दुराग्रह उन्हें भक्ति की बात सोचने ही नहीं दे रहा था।

इसलिए वकील साहब कहते रहे और वह सुनते रहे। लेकिन वकील साहब का बात करने का ढंग बड़ा प्रभावशाली था। उनके गीता के उद्धरण इतने वजनदार थे, तुलसी की चौपाइयाँ इतनी मोहक थी कि वह मुरारीलाल जी के मौन पर ही नहीं उनके भीतर घुटते क्षोभ पर धीरे-धीरे प्रभावी होने लगे। वकील साहब एक मनोवैज्ञानिक की भाँति इसे देख रहे थे। उनके मुख के क्रोध को वह आसानी से पढ़ रहे थे। वह समझ गए अब समय आ गया है, लोहा गरम है, अब इस पर प्रहार और तेजी से करना चाहिए। गीता, रामायण से हटकर वकील साहब उपनिषदों की कथाओं तक पहुँच गए। कथाएँ बात की व्याख्या करने में बड़ी सफल होती हैं।

भक्ति का प्रभाव मुरारीलाल के भीतर जादू की तरह छा गया। वह सम्मोहित हुए-से वकील साहब के कथन को ध्यान में सुनने लगे। विवश होकर कहने लगे, “वकील साहब, आपके तर्क अकाट्य हैं। मैं यह भी मानता हूँ जीवन का अंतिम लक्ष्य भौतिकता नहीं है। मोक्ष के लिए वैराग्य आवश्यक है और वैराग्य अभ्यास से साधा जा सकता है। वैराग्य एकाग्रता की पहली सीढ़ी है। आप कहते हैं तो ऐसा करके देखता हूँ। लेकिन बच्चे को भेजूंगा नहीं। यदि अचलेश्वर ने जिद की, तो मैं फिर आपके पास आ जाऊँगा।”

“मुरारीलाल जी, आपको मेरे पास आने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। आप पहले मंदिर पर दर्शनों के लिए जाना तो शुरू करो। पुराने बुजुर्गों ने मंदिर वैसे ही नहीं बनवाए हैं। वे बड़े समझदार थे। वे जानते थे कि भौतिक अलक-जाल में उलझा मन आसानी से वैरागी नहीं बन सकता। उसे कोई विपरीत आकर्षण चाहिए जो उसके मन को भौतिकता के मोह से हटा सके। इसीलिए मंदिरों को सजाया जाता है। भगवान् की मूर्ति की छटा दर्शनीय बनाई जाती है। वहाँ आरती, भजन-कीर्तन किए जाते हैं, ताकि मनुष्य

खाली समय का उपयोग परमात्मा के लिए कर सके, अन्यथा मंदिरों में क्या धरा है। मूर्ति पत्थर की है, सब जानते हैं। यह भी जानते हैं, जड़ से चेतन की कोई अपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन जड़ मूर्ति ही भक्ति के मार्ग की पहली सीढ़ी है। उसी मूर्ति में भक्त परमात्मा की छवि देखने लगता है। चैतन्य बाहर नहीं है, अपने भीतर है। वही चेतना, जब मन बाह्य से विरत होता है, प्रस्फुटित हो उठती है। एक प्रकाश खिल उठता है। माया-मोह का परदा, जो उस चेतना को ढके था, जैसे ही वह हटता है चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश भासने लगता है। यही मोक्षावस्था है। बाहर कुछ नहीं है, जो कुछ है वह अपने ही भीतर है। उसे पहचानने की आवश्यकता है। लड़का, लड़की, भाई, पत्नी, मामा, नाना, काका, ताऊ, फूफा सब व्यवहार-भर है। कोई काम नहीं देता। साथ देता है अपने भीतर बैठी चेतना का प्रस्फुटन। यही सत्य है। इसी सत्य को जानने की बात सारे वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण आदि ग्रंथों में कही गई है।”

मुरारीलाल जी पूरी तरह वकील साहब के प्रभाव-तंत्र के नीचे आ चुके थे। उनका मन चुपचाप भीतर की चेतना को खोजने लगा था।

“अच्छा वकील साहब, आप कहते हैं, तो यह भी करके देख लेता हूँ।”

मुरारीलाल जी कमरे से बाहर निकले। बरामदे की दोनों सीढ़ियाँ उतरे। लॉन के आगे पटान पर होते हुए फाटक पर गए। वकील साहब खिड़की की जाली में से इस प्रतिगमन को खड़े देख रहे थे। मुख की मुद्राओं को पढ़कर आश्चर्य से कि मुरारीलाल जी अब बच्चे की जिद नहीं करेंगे। मुरारीलाल जी चले गए।

वकील साहब को पहली बार किसी अभिभाषणार्थी को घर से लौटाने का पश्चात्ताप हो रहा था। वह भीतर आकर पलंग पर लेट गए। सोचने लगे, ‘कैसे-कैसे लोग कैसे-कैसे प्रश्न लेकर आते हैं। वकील को केवल कानून की पुस्तकों का ही ज्ञान होना आवश्यक नहीं है, उसे मनोविज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक जगत् का भी पूरी तरह ज्ञान होना चाहिए। यदि मुरारीलाल सचमुच मंदिर जाने लगा, तो बच्चे को भूल जाएगा। उसमें एकाग्रता आ चुकी है। मन सबसे हटकर एक जगह टिक चुका है। आवश्यकता है आधार के परिवर्तन की। जैसे ही वह बदला, मन उसमें एकाग्र होना प्रारंभ

कर देगा ।’

वकील साहब जब यह सोच रहे थे तभी घंटी बजी । किवाड़ खोलकर जैसे ही वह बरामदे में आए, बहुत ही सुंदर आकर्षक युवा दंपती खड़े थे । पुरुष-मुख की सामुद्रिक मुद्रा ही स्पष्ट बता रही थी कि व्यक्ति सुशील, सुशिक्षित तथा सुसंपन्न है । नारी की साड़ी का मूल्यवान होना भी इसकी पुष्टि करता था ।

“कहिए, कैसे पधारे ?”

“आपसे कुछ काम था ।”

फिर कार्यालय के किवाड़ खुले । वकील साहब अपनी कुरसी पर और वे दोनों सामने की कुरसियों पर आ जमे ।

“कहिए, क्या बात है ?”

“वकील साहब, बात तो कुछ भी नहीं है । हमारा पाँच वर्ष का एक बच्चा है । वह पिताजी के पास है । बाहर खुले में रहने से अब पुराने मकान में हमारा दम-सा घुटता है । थोड़ा व्यवसाय पर भी असर पड़ता है । इसलिए हमने विस्तार योजना में एक सुंदर-सा बँगला किराए पर ले लिया है । हम उसमें रहने लगे हैं । पिताजी पुराने मकान को छोड़ना नहीं चाहते । उनका मन वहाँ लगा है । अब हम उनके पास से बच्चे को लाना चाहते हैं । वह बच्चे को लेने नहीं देते हैं । अपने ही पास रखने की जिद पर अड़े हैं । हम चाहते हैं, कानूनी सहायता से बच्चे को प्राप्त करें, इसलिए आपके पास आए हैं ।”

“आप डॉ० अचलेश्वर हैं ?”

“जी । आपको मेरा नाम कैसे मालूम हुआ ? क्या पिताजी यहाँ आए थे ?”

“हाँ, वह अभी यहीं से गए हैं । आपने यदि कोई कानूनी कार्यवाही की तो बात और उलझ जाएगी । मेरा सारा प्रयत्न निष्फल हो जाएगा । वह जिद पर अड़ जाएँगे ।”

“आपने उन्हें समझाया है क्या ?”

“जी । मैंने उन्हें बच्चे के साथ-साथ मंदिर जाने की सलाह दी है । भक्ति का मार्ग बताया है । मुझे विश्वास है, वह मंदिर जाने लगे तो बच्चे

को भूल जाएँगे।”

“वकील साहब, मुझे ऐसा नहीं लगता। वह बच्चे के पीछे दीवाने हो रहे हैं। पागलों जैसी स्थिति हो जाती है। रोने लगते हैं। मैं अब तक ले भी जाता, पर आखिर वह पिता हैं। उन्हें रुलाकर तो मैं बच्चे को नहीं ले जा सकता।”

“अचलेश्वरजी, आप एक काम करेंगे?”

“हाँ-हाँ, क्यों नहीं। यदि कोई रास्ता निकलता है तो उसे मैं अवश्य करूँगा।”

“आप रोजाना दिन में कम-से-कम एक बार अवश्य पिताजी के घर जाया करें। अपने साथ हर रोज टॉफियाँ, चाकलेट, खेल के सामान, बिस्कुट आदि ले जाया करें। कम-से-कम घंटे-भर वहाँ रहकर बच्चे को खिलाया करे। आप देखेंगे बच्चा आपके साथ जाने की जिद करने लगेगा। आप उसे मत ले जाइए, रोने दीजिए। सात दिन में ही स्थिति यह आ जाएगी कि बच्चा स्वयं वहाँ रहने से मना कर देगा। पिताजी बच्चे की स्थिति को देख घबरा जाएँगे और एक दिन बच्चा आपको स्वयं दे देगा।”

“वकील साहब, इतना समय कहाँ मिलता है। जब से कुवैत से यहाँ आया हूँ, रोगियों की संख्या बढ़ती चली जा रही है। यहाँ भी मजबूरी में आया हूँ।”

“आपको मेरे कहने से कुछ दिन अपना आर्थिक नुकसान तो उठाना ही पड़ेगा। उधर तो पिताजी को मंदिर जाने की प्रेरणा दीजिए। आप स्वयं उन्हें मंदिर ले जाइए। वहाँ दर्शनों में बैठा आइए। इधर इस बीच बच्चे को टॉफियाँ खिलाइए।”

“वकील साहब, आप कहते हैं तो कर लेता हूँ। वैसे हमारा पक्ष तो मजबूत है। बच्चे के प्राकृतिक संरक्षक माता-पिता होते हैं। बच्चा हमें मिल जाएगा।”

“बच्चा तो आपको मिल जाएगा डॉक्टर साहब, पर आपके पिताजी का दिल टूट जाएगा। क्या आप चाहेंगे कि पिताजी का साया उठ जाए?”

“नहीं-नहीं, वकील साहब, ऐसा तो मैं सोच भी नहीं सकता।”

“तो फिर व्यावहारिक पक्ष पर ही आना पड़ेगा न। कानून बड़ा निर्दयी

है। डॉक्टर साहब, परिवार की शांति तथा मन की शांति के लिए कानून का नहीं, उचित व्यवहार का आश्रय चाहिए।”

“आप ठीक ही कहते हैं। आपको मैंने कष्ट दिया। लीजिए, आपकी फीस।” पैट की पीछे की जेब में से बटुआ निकालकर कुछ नोट निकालकर देता है।

“इनकी कोई आवश्यकता नहीं डॉक्टर साहब। इनकी कोई आवश्यकता नहीं।”

रुपए उठाकर वकील साहब डॉ० अचलेश्वर को लौटा देते हैं, “आप एक बार मेरे परामर्श के अनुसार करिए जरूर।”

यही कोई १५ दिन हुए होंगे। वकील साहब अपने कार्यालय में बैठे हैं। अचानक डॉ० अचलेश्वर आते हैं। उनके हाथ में मिठाई का बड़ा-सा डिब्बा है। उनके साथ एक बच्चा भी है।

“वकील साहब, यह मिठाई मेरी ओर से। यह वही बच्चा है।”

“इसकी क्या आवश्यकता थी डॉक्टर साहब। आपने वैसे ही कष्ट किया।”

वकील साहब ने बच्चे के पास जाकर उसके सिर को खुजलाया। फिर गालों को थपथपाया तथा मुँह को ले जाकर गालों को चूम लिया, “अब तो आप प्रसन्न हैं, अचलेश्वर जी?”

“आपकी कृपा का फल है। अच्छा, मैं चलूँ।”

अचलेश्वर के चले जाने के बाद बड़ी देर तक वकील साहब वैसे ही खड़े रहे। सोचते रहे, कानून से बड़ी कोई चीज है तो व्यावहारिकता। व्यावहारिक ज्ञान।

ममत्व

तेंदुलकर ने जैसे ही कार्तिक के कमरे में पाँव धरा; कार्तिक, जो कमरे में एक ओर दीवार से सटे पलंग पर बैठे थे, मुड़कर तकिए पर बाँह और बाँह पर मुँह टिकाकर फफक-फफककर रोने लगे। कमरे में ही नहीं पूरे घर में एक मातमी सन्नाटा छाया हुआ था। हर कोई एक-दूसरे को देखता तो था, पर न तो कोई प्रतिक्रियात्मक चेष्टा करता था, न बोलता था, न आए अभ्यागत के स्वागत के लिए उत्सुक होता था। कपोल विवर्ण, आँखें शांत, अधर मौन, न स्मित, न उत्साह, न स्वागतोत्सुक मुद्रा-अनुभव-विभाव। तेंदुलकर परिस्थिति से अवगत थे ही, प्रसन्नता का क्षण भी नहीं था, इसलिए उन्होंने भी निश्चेष्ट भाव से जब बैंगले में प्रवेश किया और चारों ओर देखते हुए कि कार्तिक कहाँ है, अनुमान से उसी कमरे तक बढ़ गए, जहाँ कार्तिक था।

कार्तिक की पत्नी दरवाजे पर खड़ी थी। उसी से तेंदुलकर ने अनुमान लगा लिया कि कार्तिक को वही होना चाहिए। कार्तिक की पत्नी भी एक गहन आंतरिक पीड़ा में डूबी थी। इसलिए उसने तेंदुलकर के दरवाजे के निकट पहुँचने पर भीतर प्रवेश के लिए मार्ग दे दिया। यह सब मौन की स्थिति में सहज-सहज हो गया।

तेंदुलकर कार्तिक-परिवार के लिए नए नहीं थे। कई बार आए-गए थे। बैठक में घंटों बैठे हैं। साथ-साथ बाहर लॉन में घूमे-फिरे हैं। लेकिन इस कमरे में प्रवेश का यह पहला ही अवसर था; क्योंकि यह कार्तिक का शयनकक्ष था और दूर कोने में था। वहाँ तक जाने की आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि बाहर लॉन था। बाहर ही बरांडा था, फिर बैठक थी। भीतर भी बरांडा था, जहाँ खाने की मेज-कुरसियाँ लगी थी। यदि भीतर खाना-पीना भी हुआ तो सीमारेखा खाने की मेज तक ही थी।

कार्तिक-परिवार ही उदास और निरुत्साह हो, ऐसी बात नहीं थी।

कार्तिक के आजू-बाजू और सामने के मकानवाले भी पड़ोसी के क्लेश को अपना ही क्लेश माने मौन थे। तेंदुलकर को जाता हुआ तो वे देख रहे थे, पर निश्चेष्ट भाव से। सारा वातावरण संवेदना के महासमुद्र में डूबा था। तेंदुलकर और कार्तिक के घनिष्ठ संबंधों को सभी जानते थे। उनकी पारिवारिकता से सभी परिचित थे। पड़ोसी अवाक् रहते हुए भी इसलिए समुत्सुक थे कि तेंदुलकर जी के जाने के बाद क्या होता है। पड़ोसी परिवारों में तेंदुलकर जी के जाने पर, वहाँ होनेवाली प्रतिक्रियाओं पर, अपनी चर्चाएँ अवश्य बंद कमरों में होने लगी थी। पत्नी अगर यह कहती कि तेंदुलकर जी खुले मस्तिष्क और प्रगतिशील सोचवाले व्यक्ति हैं तो पति उसके विपरीत कहता कि कार्तिक इनकी बात मानेगा तब तो। वह तो आत्महत्या करने को बैठा है। अपनी सारी प्रतिष्ठा नष्ट हुई मान रहा है। और यदि पत्नी यह कहती कि लोग-बाग झूठी सहानुभूति दिखाने आ जाते हैं, जिस पर गुजरती है वही जानता है तो पति कहते कि ये ऐसे क्षण होते हैं जब आदमी अपना संतुलन खो देता है। ऐसे संकट के क्षणों में बड़ों का ढाढ़स बँधाना, हिम्मत देना बड़ा काम आता है। व्यक्ति के भीतर उबलती पीड़ा को विराम मिलता है तथा नई दिशा भी मिलती है।

ऐसी ही परस्पर विरोधी चर्चाएँ परिवारों में मंद स्वर में चलने लगी थी।

तेंदुलकर जी पुराने राजनेता हैं। अच्छे वक्ता हैं। प्रतिष्ठावाले हैं। इसलिए मुहल्ले में सभी स्त्री-पुरुष उनका सम्मान करते हैं। उनके किसी के यहाँ आने का एक गहरा अर्थ होता है, ऐसा सभी मानते हैं।

कार्तिक के बाँह में मुँह छिपाकर रुदन करने से स्पष्ट है कि तेंदुलकर और कार्तिक के बीच गहरी पारिवारिकता ही नहीं, आत्मीयता भी है। इनके प्रगाढ़ मैत्रीपूर्ण संबंध ही नहीं, बंधुत्व भाव भी है। बंधुत्व सहोदरों के बीच ही हो ऐसा नहीं है। दूर के लोगों में भी सहोदरो से अधिक बंधुत्व भाव देखने को मिलता है। कार्तिक और तेंदुलकर के बीच सहोदरो से भी अधिक घनिष्ठ प्रेम है, इसे सभी जानते हैं। तेंदुलकर ने धीरे से कार्तिक के कंधे पर हाथ धरकर सांत्वना दी।

“तुम समझदार हो, घर में बड़े हो, यदि तुम्ही इतने व्यथित होओगे तो औरों का क्या हाल होगा? जीवन में ऐसे क्षण भी आ सकते हैं। मनुष्य को

साहस के साथ सामना करना चाहिए, उठो।” यह कहते हुए कार्तिक को तकिए से अपनी ओर खींच लिया।

कार्तिक खिच तो आए पर तेंदुलकर की गोद में सिर धरकर रोते हुए वह कहने लगे, “भाई साहब, मेरी तो सारी इज्जत धूल में मिल गई। मैं तो कही का नहीं रहा, इससे तो मर जाना अच्छा।”

“नही, ऐसा नहीं सोचते हैं।” तेंदुलकर ने कहा, “कठिन परिस्थितियों को भी सहजता तथा प्रसन्नता से स्वीकार करने पर, उससे उत्पन्न होनेवाली कड़ुवाहट नहीं सालती। तिव्रता स्वयं छूट छाती है। दूसरे जो चिंता प्रकट करते हैं वे भी परिस्थिति देखकर उसी भाव को ग्रहण कर लेते हैं। इज्जत तो वहाँ जाती है, जहाँ अपराध होता है।”

“भाई साहब, हमारे परिवार में आज तक ऐसा कभी नहीं हुआ। बड़े-बूढ़ों ने एक मर्यादा बना रखी है, सब उसी में चले हैं।” कार्तिक ने कहा। तब तक कार्तिक सहज हो गया था। आँखें अवश्य गीली थी। कोणों में बिदु चिपके थे। पुतलियाँ लाल थी।

कार्तिक की पत्नी कार्तिक को सहज हुआ देखकर दरवाजे की ओर खिसक गई थी। तेंदुलकर जी क्या परामर्श देते हैं, यह पता चल सके, वहाँ से वह इसीलिए नहीं जाना चाहती थी। वह वकील होने से कानून के भी ज्ञाता है। फिर वह अपने हैं। घर जैसी ही सलाह देगे। उनकी उपस्थिति को कार्तिक गंभीरता से नहीं ले रहा था। इसलिए उसे सहज होते संकोच नहीं था। तेंदुलकर ने कार्तिक को, जीवन में कभी-कभी अप्रत्याशित घटने-वाली उन दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं को गंभीरता से न लेने तथा परिणामों को हँसकर झेलने का परामर्श दिया। लेकिन यह परामर्श कार्तिक के गले नहीं उतर रहा था। वह आकंट शर्म में डूबा घर से बाहर नहीं निकल रहा था। कमरे में छिपा पड़ा था। तेंदुलकर इस स्थिति को भाँप गए थे। वह हाथ पकड़कर उस कमरे से कार्तिक को बाहर ले आए और बैठक में आ बैठे। परिवारवाले भी, जो उनके कमरे में जाने से कतरा रहे थे, बैठक में आ गए।

अश्विनी ने क्रोध में भीतर आकर तेंदुलकर जी से कहा, “आज से प्रतिभा से हमारा कोई संबंध नहीं रहा। न वह हमारी बहन है न हम उसके भाई। हमारे लिए वह मर गई और उसके लिए हम।”

अश्विनी कार्तिक का लड़का है। जब वह बोल रहा था तब उसके दोनों हाथों की मुट्ठियाँ कसी थीं। नसें उभर रही थी। एक साँस में ही वह इतनी सारी बातें कहकर बाहर लॉन की ओर चला गया।

प्रतिभा ने बंबई आर्यसमाज में विश्वास आहूजा से विवाह कर लिया था। बंबई में प्रतिभा की बड़ी बहन सुषमा रहती है। सच पूछिए तो सुषमा ने ही यह विवाह कराया था। सुषमा को प्रतिभा और विश्वास के बीच बढ़ रहे प्रेम-संबंधों का पूर्व ज्ञान था। सुषमा प्रतिभा से कोई अधिक बड़ी नहीं थी, यही केवल दो-ढाई वर्ष। इतने ही वर्ष पहले उसका विवाह हुआ था। उसके एक लड़का भी हो गया था। जब वह बैतूल में थी, तब एक दिन प्रतिभा ने उससे कहा था, “जीजी, मैं विश्वास से प्रेम करती हूँ। मैं उसी से विवाह करूँगी, नहीं तो प्राण दे दूँगी। वह भी मुझे प्रेम करता है।”

नारी में नारी की भावनाओं को समझने की बड़ी क्षमता होती है। सुषमा में प्रेम-विवाहों को स्वीकारने की मनःस्थिति कब पुष्ट हुई यह तो ज्ञात नहीं। हो सकता है फिल्मों का उस पर प्रभाव हो, जिन्हें वह प्रतिदिन देख रही थी। बंबई में तो प्रत्यक्ष ऐसे उदाहरण देखने-मुनने को मिलते ही थे। शायद इन सभी कारणों से बंबईवासिनी सुषमा के लिए ऐसी बातें बहुत विचारणीय नहीं थी।

उसने कहा, “यदि तुम दोनों का ऐसा ही मानस हो तो बंबई आ जाना। तुम्हारा विवाह करवा दूँगी।”

बड़ी बहन के आशीर्वाद ने प्रतिभा को बल दिया। एक दिन एकात में उसने विश्वास को बुलाकर सुषमा से बात भी करवाई। सुषमा को विश्वास हो गया कि विश्वास प्रतिभा को हृदय से चाहता है। वह सुंदर है। जँचता है। अच्छे परिवार का है। प्रतिभा को भी उसके परिवार में जाकर किसी प्रकार का दुःख नहीं होगा। घर सपन्न है। अच्छा कारोबार है। उसने उन्हें बंबई आने का निमंत्रण दे दिया। तब से प्रतिभा विश्वास को अपने भावी पति के रूप में मानने लगी थी। वह समझती थी कि जीजी की स्वीकृति और विवाह करा देने का आश्वासन ही उनकी मँगनी की पूर्ति है। वह भविष्य के सुखद सपने देखने लगी थी।

आहूजा का परिवार बैतूल में इस समय तो कार्तिक के बँगले से दूर

मुहल्ले में दूसरी ओर चला गया है, लेकिन कभी कार्तिक के बँगले के सामने ही आहूजा-परिवार किराए पर रहा करता था। एक महाराष्ट्रियन और दूसरा पंजाबी होने से दोनों का पारिवारिक आना-जाना तो अधिक नहीं था, लेकिन कोई विवाद भी नहीं था। राम-राम श्याम-श्याम का रिश्ता तो था ही, लेकिन प्रतिभा और विश्वास के बीच इन रिश्तों से बड़ा किशोरा-वस्था और चढ़ते हुए यौवन का रिश्ता था। प्रतिभा कार्तिक की सबसे छोटी लड़की होने से बड़े लाड़-प्यार से पली थी। वह बड़ी चुलबुली थी। अधिक प्यार होने से बिटिया से कोई कुछ नहीं कहता था। वह साइकिल लेकर जब गलियों में घूमती तो लगता अत्यधिक चंचल है। आगे बढ़नेवाली है अर्थात् परिवार के लिए प्रसन्नता का कारण बनेगी।

उन्हें क्या पता था, उसका सायंकाल साइकिल पर घूमना, हँसकर बोलना, उनके लिए कभी अभिशाप बन जाएगा। विश्वास गठीला, फुर्तीला, फैशनेबल युवा था। किसी भी लड़की का उस पर आसक्त हो जाना आश्चर्य अथवा असंभव नहीं था। प्रतिभा ने उसमें अपनी तुष्टि तथा भविष्य देखा तो अप्रत्याशित नहीं था। समान आर्थिक स्थिति, समान सौंदर्य, समान आकर्षण, विवाह योग्य आयु सभी तो ठीक था। कोई अनहोना नहीं।

तेदुलकर जब कार्तिक को बैठक में समझा रहे थे, तभी विश्वास के पिता प्रफुल्ल आहूजा अपने लड़के के साथ प्रतिभा को लिवाने के लिए आ गए। बंबई से प्रतिभा और विश्वास शादी करके बैतूल पहुँच रहे हैं, इस सूचना का जब सुपमा का फोन आया तभी से परिवार पर विषाद के काले बादल मँडराने लगे थे। ट्रेन पर जाना तो दूर उसका मुँह भी नहीं देखने का निश्चय कर सब अजाने मौन के खंडहर में गुम हो गए। भीतर अपमान की आँधी घुमड़ने लगी थी।

जैसे ही विश्वास और प्रतिभा का थ्री व्हीलर बँगले के सामने रुका भाइयों के बच्चे सहसा बाहर आ गए। 'बुआ आ गई, बुआ आ गई' का शोर करते बच्चे पास आ गए। मुड़-मुड़कर कनखियों से देखती भाभियाँ कमरों की खिड़कियों में आ खड़ी हुई, लेकिन बड़े भाइयों के क्रोध का पारावार ज्वार बनकर उमड़ पड़ा। पिता लज्जा में डूबकर अपने कमरे में जा दुबके और माँ, जिसका मन दोनों ओर फँसा था, बरामदे में खड़ी प्रतिभा के

भीतर आने की प्रतीक्षा तो कर रही थी, पर उसे आदर से लिवाने के लिए नहीं बढ़ी। एक ओर ममता थी, दूसरी ओर पति के विषाद और दुःख का बोझ। उसके पाँव जड़ हो रहे थे। खूँटे की तरह खड़ी थी।

श्री व्हीलर से ब्रीफकेस लिए पहले विश्वास उतरा, उसके पश्चात् प्रतिभा। विश्वास ने ब्रीफकेस प्रतिभा को पकड़ाया, अटैची उतारकर धरती पर धरी, स्कूटरवाले को दस का नोट दिया और अटैची उठाकर प्रसन्न मुद्रा में दोनों ने बँगले में प्रवेश किया। छोटे बच्चे बुआ-बुआ कहकर प्रतिभा से लिपट गए। भाभियों ने खिड़की में मुख मोड़ लिया।

बाहर श्री व्हीलर का शोर हवाओं में गूँज रहा था। भीतर स्तब्धता का जंगल घोर सन्नाटा जी रहा था। सब अपने-अपने कमरे में थे। केवल बरामदे में खड़ी थी माँ। उसने माँ के चरण स्पर्श किए। वह कुछ नहीं बोली। जैसे ही विश्वास ने चरण छूने चाहे, उसने अपने पाँव पीछे हटा लिए। वह एकटक माँ की रोषपूर्ण मुद्रा प्रसन्नता से निहारता रहा। पर थोड़ी देर निहारने पर भी भृकुटि का बल नहीं गया तो उसने भी यह कहकर, “प्रतिभा, तुम रुको, मैं घर हो आता हूँ। पापा से मिल आऊँ” बाहर निकल गया।

प्रतिभा को माँ आँगन पार के खाली कमरे में ले गई। बच्चों ने आकर कमरे का मौन भंग कर दिया।

श्रीमती कार्तिक ने जाकर कार्तिक से जब कहा, “आई है तो मिल तो लो”, तब कार्तिक बिफर उठे। जैसे बिच्छू ने डंक मारा हो। उनके सारे शरीर में रक्त का क्रोधित संचार बढ़ गया। हाथ-पैर थर-थर काँपने लगे। उनके स्वर में न जाने कहाँ से बल आ गया। वह जोर से बोल उठे, “मैं उसका मुँह भी नहीं देखना चाहता। मेरे लिए वह मर गई। वह जहाँ जाना चाहे जाए। अब वह मेरी कोई नहीं। यही सोच लूँगा कि मेरे एक बेटे नहीं थी।”

“धीरे बोलो, वह क्या कहेगी।” श्रीमती कार्तिक के इतना कहते ही श्री कार्तिक का क्रोध आसमान छूने लगा। वह जोर-जोर से बोले, “क्यों धीरे बोलें? सुन लेगी तो सुन लेगी। उसने मेरी सारी शान के बट्टा लगा दिया। मेरे परिवार में आज तक किसी ने ऐसा नहीं किया। यह तो कुल-

कलंकिनी है। होते ही मर जाती तो अच्छा था। मेरे माथे पर कलंक का टीका लगाने के लिए ही क्या जिदा थी?" यह कहते-कहते श्री कार्तिक बिस्तर पर पसर गए। कुछ अचेत से हो गए।

श्रीमती कार्तिक घबरा गई। कहीं कुछ हो न जाए, क्योंकि कार्तिक रक्तचाप के रोगी थे। वह बड़े लड़के को बुलाने दौड़ी। पिता की विषम स्थिति देखकर लड़का अश्विनी भी जोर से बोलने लगा, "प्रतिभा इस घर में आई ही कैसे? वह यहाँ नहीं रहेगी। वह हमारी बहन नहीं, हमारी शत्रु है। उसने हमें दो कौड़ी के आहूजे के सामने नीचा दिखाया है। हमारे स्वाभिमान पर उसने लात मारी है। हम उसका यहाँ रहना एक पल सहन नहीं करेंगे।"

प्रतिभा ने पिता की क्रोधपूर्ण वाणी तो सुन ली, लेकिन भाई की आवेश-पूर्ण वाणी सुनकर वह भी तिलमिला उठी। बहन के फोन के बाद वह समझी थी परिवार उसको प्रसन्नता से दुलारेगा, परंतु घर की स्थिति देखकर वह भड़क उठी। उसकी आँखों में क्रोध और आँसू दोनो झलक उठे। शब्द अधरों पर आ सिमटे। जब क्रोध भीतर-ही-भीतर रूँधता है तब हृदय घुटता है। शब्द के रूप में वह बाहर आना चाहता है पर परिस्थितियाँ मुँह सी देती हैं। जब शब्दों के बाहर निकलने के लिए अधर नहीं खुलते तो वे शब्द तरल आँसू बनकर आँखों के रास्ते बाहर आते हैं। घुटन और विवशता उनमें छिपी होती है। यही स्थिति प्रतिभा की थी।

बैंगला पड़ोसियों से भर गया। महिलाओं में प्रतिभा को देखने की अधिक उत्कंठा थी जबकि पुरुषों में कार्तिक से मिलकर उन्हें सांत्वना देने की। धीरे-धीरे आनेवालों की संख्या कम होने लगी। तेंदुलकर जब पहुँचे तब तक सब मिलकर जा चुके थे, क्योंकि सबको दुकानों-दफ्तरों में जाना था। बाहर कोई नहीं था।

बैठक में जब तेंदुलकर कार्तिक के साथ बैठे थे तब प्रफुल्ल आहूजा विश्वास को लिए इस तरह आ पहुँचे, जैसे बिल्ली दबे पाँव अपने शिकार पर आ झपटती है। उनके आते ही घर में एक कुहराम मच गया। अश्विनी से नहीं रहा गया। वह आकर तेंदुलकर के सामने प्रफुल्ल आहूजा से गरजकर बोला, "प्रतिभा हमारे लिए मर गई है। हमारा उससे कोई संबंध नहीं है।

वह जाना चाहे तो उसे ले जाएँ। हमें कोई आपत्ति नहीं है।”

प्रफुल्ल आहूजा भी तेंदुलकर का सम्मान करते थे। उन्हें मध्यस्थता के लिए आमंत्रित करते हुए प्रफुल्ल ने कहा, “भाई साहब, आप जैसा कहें हम वैसा करने को तैयार हैं। दोनों ने स्वेच्छा से विवाह किया है। विवाह में हमें कोई आपत्ति नहीं है। प्रतिभा को हम स्वीकारते हैं। घर में इसे कोई कष्ट नहीं होगा। वह और बहुओं में भी अधिक सम्मान पाएगी, यह मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ।”

तेंदुलकर ने कहा, “आहूजा साहब, आपका कहना तो ठीक है, लेकिन इस परिवार की पीड़ा भी तो आपको देखनी है।”

अश्विनी ने फिर भीतर आकर उसी आवेश के साथ कहा, “प्रतिभा जाना चाहती है तो जाए पर यह जान ले, वह इस घर में फिर कभी पैर नहीं रखेगी।”

प्रफुल्ल आहूजा बोले, “हम परिवारों में मनोमालिन्य नहीं चाहते। प्रतिभा जाना चाहेगी तभी हम ले जाएँगे।”

भीतर से कार्तिक की पत्नी बोली, “ऐसे कैसे ले जाएँगे? हम भेजेगे तभी ले जा सकते हैं। प्रतिभा अब नहीं जाना चाहती।”

प्रफुल्ल आहूजा बोले, “उससे पूछ लें। यदि वह नहीं जाना चाहती तो हम भी जिद नहीं करेंगे।”

तेंदुलकर कार्तिक की ओर अभिमुख होकर बोले, “क्यों जी, ठीक है?”

कार्तिक मौन रहे। तेंदुलकर बोले, “यह ठीक है, यदि प्रतिभा कह देती है कि मैं नहीं जाऊँगी तो वह नहीं जाएगी। क्यों आहूजा साहब, स्वीकार है?”

प्रफुल्ल आहूजा ने कहा, “बुलवा लीजिए।”

जब प्रतिभा बैठक में घुसी तो तेंदुलकर उसका क्रोध, आँसू और दृढ़ विश्वास से भरा रोबीला मुखड़ा देखकर दंग रह गए। जिसे मुहल्ले से सदा विहँसते, मुसकराते, बतियाते, चुहल करते देखा था एक बच्ची के रूप में; एक विकराल सिंहनी के रूप में उसे उन्होंने देखा तो देखते रह गए।

प्रफुल्ल ने कहा, “आप पूछ लीजिए।”

तेंदुलकर पूछें उससे पहले ही प्रतिभा स्वयं बोल उठी, “मैं इन्हीं के साथ

जाऊँगी। मुझे कोई रोक नहीं सकता। मैंने जो कर लिया वह कर लिया। अब उसे कोई नहीं तोड़ सकता।”

तेंदुलकर प्रतिभा के संकोचरहित साहस को देखकर विचारने लगे, प्रेम कितना प्रबल होता है। जो कभी परिवार के सामने इस तरह नहीं बोली आज शेरनी की तरह गुर्रा रही है।

अश्विनी के रोष का पारा चढ़ चुका था, फिर आकर बोला, “यह जाती है तो अभी चली जाए। इस घर में रहने और हमें अपमान की आँच में तपाने की कोई आवश्यकता नहीं है।”

माँ ने फिर भीतर से विरोध किया, “बेटी ऐसे ही कैसे चली जाएगी? जाएगी तो तरीके से जाएगी।”

अश्विनी ने कहा, “कोई तरीका-वरीका नहीं, यह इस घर में एक मिनट भी नहीं रहेगी।” और वह दौड़कर उसकी अटैची लाने चला गया।

प्रतिभा खड़ी हो गई।

देखते-ही-देखते प्रतिभा तो चली गई, लेकिन कार्तिक का मुँह खुल गया, “उसे घर से निकाल दिया, अच्छा किया। इस घर में वह रहती तो मैं जिदा नहीं रहता, आत्महत्या कर लेता।”

तेंदुलकर समझाते हुए कहने लगे, “यह ठीक ही रहा। कुछ दिन उसे वहाँ रहने दो। उसे पता लग जाएगा, पराए घर में रहना कैसा होता है।”

कार्तिक बीच में ही बोल उठे, “नहीं, अब आएगी तो उसे घर में नहीं आने दूँगा।”

तेंदुलकर ने शांत भाव से फिर कहा, “कार्तिक साहब, ऐसे समय में शांति और विवेक से कार्य लेना चाहिए। हमने यदि हंगामा किया तो अपमान अधिक होगा, यदि उसे स्वीकारा नहीं तो भी, यदि विरोध का डंका नहीं बजाया तो भी। कौन है जो आपसे कुछ कहे। मनुष्य का स्वभाव भूलनेवाला होता है। पड़ोसी भूल जाएँगे। आपके साहस की प्रशंसा ही करेंगे। इसलिए इस समय आपका शांत रहना आवश्यक है। इससे मानसिक शांति भी रहेगी और यदि भविष्य में स्वीकारने की स्थिति आई भी, तो स्वीकारते सकोच नहीं होगा।”

“नहीं भाई साहब, मैं कभी उसे स्वीकार नहीं करूँगा। उसने मेरी

इज्जत धूल में मिलाई है। परिवार की सारी प्रतिष्ठा मटियामेट कर दी है। एक पैसा नहीं देनेवाला हूँ। उसके लिए जो जोड़ रखा था उसे भी खर्च कर दूंगा, लेकिन उसे नहीं दूंगा। आहूजा की नजर मेरे पैसे पर लगी है। उसकी यह इच्छा कभी पूरी नहीं होने दूंगा। उसने इसीलिए लड़के का विरोध नहीं किया। चाहता तो लड़के को दबा सकता था। बाप-बेटे की मिलीभगत है। चली जा और चली जा।”

क्रोध बढ़ता देख तेंदुलकर सभी को शांत रहने तथा परस्पर सद्भाव की स्थिति लाने का परामर्श देकर चले गए। वह जानते थे, क्रोध के समय ज्ञान की बात प्रभावी नहीं होती। जब क्रोध शांत होगा तभी कोई सलाह देना ठीक रहेगा।

कई महीनो तक वातावरण विषाद में बुझा-बुझा-सा रहा। लेकिन हर कोई आता तो यही कहता, “आजकल के लड़के-लड़कियों का यही हाल है। यह हवा ही ऐसी चली है। कॉलेज की शिक्षा ने सब बरबाद कर दिया है। अब समय के साथ सबको बदलना चाहिए। कहीं तक इन्हें लिए बैठे रहें। आप भी अब थोड़ा नरम होइए और बेटा-दामाद को बुलाना प्रारंभ कीजिए।” लोगों का सत्परामर्श भी उन्हें कुछ दिनों विषाक्त ही लगा। उन्होंने जब सुना प्रतिभा माँ बननेवाली है, तब भी उनका पारा नीचे नहीं उतरा। न उन्होंने आठवाँ किया, न जामणा।

लोगों ने कार्तिक से कहा, “आपको इतना कठोर नहीं होना चाहिए। जब बच्चा हो ही गया है तो उसे स्वीकार लेना चाहिए।”

महिलाएँ कार्तिक की धर्मपत्नी को समझाती, “ऐसा भी क्या है, जो बच्ची के निमित्त आपने सोच रखा है वह आपको बच्चे के नाम पर कर देना चाहिए।”

कोई कानून की भाषा में समझाता, “उसका संपत्ति में जो अधिकार है उससे कोई वंचित नहीं कर सकता, कार्तिक साहब। आपके बाद भाई-बहनों में विवाद खड़े होंगे। इससे क्या लाभ? आप अपने सामने उसे बुलाकर भाई-बहनो के बीच आना-जाना करा दें।”

प्रतिभा के पुत्र-जन्म का समाचार सुनते ही बबई से सुषमा बैतूल आ गई। वह सारी स्थिति से परिचित थी। प्रतिभा उसे घर का सारा वाता-

वरण लिखती रही थी। यह सुनहरा मौका देखकर वह चली आई। आने के बाद से ही वह सबको समझाने लगी, “यदि मैं शादी नहीं कराती तो वह उसके साथ घर से भाग जाती। उस समय अखबारों में खबर निकलती। हमारा उस समय अधिक अपमान होता। अभी तो यही है कि उसने बहन के यहाँ जाकर उसकी सलाह से शादी कर ली। या बहन ने उसकी शादी करवा दी। आप लोगों को उमे बुला लेना चाहिए।”

कार्तिक का परिवार साल-भर के अतराल में लचीला हो गया था। सुषमा के आ जाने और समझाने ने उसे और लचीला बनने में सहयोग किया। परंतु कार्तिक अभी भी इस पर सहमत नहीं था कि कोई जाकर उसे लिवा लाए। अंततः यह निर्णय रहा, यदि प्रतिभा स्वयं आ जाएगी तो कोई उसका विरोध नहीं करेगा। रक्षा-बधन का पर्व आ रहा था। सुषमा ने इसे अच्छा अवसर समझा और चुपचाप प्रतिभा को कहलवाया कि वह राखी बाँधने के लिए आ जाए। उसने सबको मना लिया है।

बाई कलाई पर राखियों से भरा हैडबैग और तौलिए में लिपटा शिशु हाथ में लिए जब प्रतिभा ने कार्तिक के बैंगले में प्रवेश किया, तब मुहल्ले के वही लोग बाहर निकल-निकल उसे घूरने लगे। महिलाएँ अपने पतियों से कहने लगीं, “देखो-देखो, प्रतिभा आई है। कितना सुंदर बच्चा लिए है।”

पति सहज भाव से बाहर आते हुए कहते, “यह तो होना ही था। चलो अच्छा हुआ। देर आयद दुरस्त आयद। रक्त पानी से अधिक भारी है। छाती घुटनो पर ही नमती है। आज के युग में जात-पाँत को कौन पूछता है। पुरानी बातें हो गईं। कार्तिक पहले ही समझौता कर लेते तो अच्छा रहता। इतना हंगामा तो नहीं होता। मनुष्य को समय के साथ चलना सीखना चाहिए।”

प्रतिभा माँ के पाँव छुए उससे पहले माँ ने शिशु को अपनी गोद में ले लिया। सहज होते हुए देर नहीं लगी। संकोच कपूर की तरह कब उड़ गया, पता नहीं चला। माँ ने शिशु को बाँहों के पलने में झुलाया। ऊँचा उठा-उठाकर चूमा। अश्विनी ने शिशु के गाल पर चुटकी लेते हुए कहा, “ममत्व स्वाभिमान से अधिक प्रबल सवेग है।” और यह कहते हुए शिशु को अपनी गोद में ले लिया।

स्वाभिमान

अनिल ने क्रोध में अपने होंठ काट लिए। आँखें लाल हो गईं। कपोलों पर लाली उभर आई। उससे देखा नहीं गया, वह उलटे पाँव लौट पड़ा। उस समय उसके पाँव धरती से कम, हवा से अधिक बाते कर रहे थे।

दीवान पर लेटे-लेटे भी वह बार-बार बैठ जाता था। सिर खुजलाता था। कभी तकिए को इधर पटकता, कभी उधर। उसके ललाट पर चिंता की रेखाएँ उभर आई थीं। वही सिरहाने की ओर तकियों को पटक सीधा लेट जाता था। तय नहीं कर पा रहा था, वह कैसे कहे, क्या कहे। उसके सामने निरे बालपन से अब तक का सारा दृश्य घूम जाता था।

विमलकुमार को वह इसी तरह आते, घंटों घर में घुसकर बातें करते, अपने छोटेपन से देखता आ रहा था। वह जानता था विमलकुमार कोई छोटा-मोटा आदमी तो है नहीं। आनंदपुर का एक बड़ा जमींदार है। उसकी बड़ी हवेली है। बड़ा कारोबार है। रूई की मिल चल रही है। सारा गाँव एहसानों से दबा है। उसके कृपा-कटाक्ष के लिए तरसता है। कोई उसके आगे अपशब्द बोलने का साहस नहीं करता।

वह सोच रहा था कैसे वह कुछ कहे। कैसे उससे कहे कि वह कल से घर नहीं आया करे। वह जवान हो गया है। जीवन और जगत् का रहस्य जानने लगा है। पुरुष और स्त्री के एकांत में मिलने का अर्थ समझने लगा है। स्त्री के सहज मिलने, बोलने, यहाँ तक कि हँसने और विहँसती आँखों, फड़कते अधरों के साथ उल्लसित होने का अंतर अब उससे अपरिचित नहीं है। जब से वह दिल्ली से लौटा है तथा यह दृश्य देखता है, तिलमिलाता है। वह इसे अपने स्वाभिमानपूर्ण जीवन पर आघात हुआ मानता है।

वह जानता है कि गाँव पर जितने अहसान विमल बाबू के है, उससे कम उसके परिवार पर नहीं हैं। जब वह ६ वर्ष का था उसके पिता का

सड़क-दुर्घटना में देहावसान हो गया था। माँ घर में अकेली थी। कोई सहारा नहीं था। तब उसने अपने भरण-पोषण के लिए कुछ समय विमल बाबू के मिल में नौकरी कर ली थी। तभी से विमल बाबू उसके घर आ रहे हैं। उसे उन्होंने गोदी में खिलाया है, टॉफियाँ खिलाई हैं। हारी-बीमारी में हकीम, डॉक्टर, वैद्य को बुलाया है। चिकित्सा करवाई है। यहाँ तक कि पैसा नहीं हुआ तो अपने पास से पैसा लगाया है।

अनिल उस समय बच्चा था, इस अहसान, इस आगमन तथा इस व्यवहार का निहित अर्थ नहीं समझता था। समझने की उसे आवश्यकता भी नहीं थी। उस समय वह अबोध विद्यार्थी था। उसका अपना कोई स्वाभिमान भी नहीं था। कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं था, जिस पर कोई चोट पहुँचती।

वह पढ़ने के लिए दिल्ली चला गया। छुट्टियों में ही आता था और २-४ दिन रहकर चला जाता था। इन बातों पर ध्यान देने का समय भी उसके पास नहीं रहता था। घर में इतना ही रहता था, जितना शरीर के लिए आवश्यक था। शेष समय मित्रों से मिलने, पड़ोसियों के यहाँ उठने-बैठने में ही निकल जाता था। विमल बाबू भी शायद उसे आया देखकर अपना आना कम कर देते थे। इसलिए भी वह इस सबसे अपरिचित रहा।

उसके दिल्ली चले जाने के बाद भी माँ ने मिल की नौकरी नहीं छोड़ी। छोड़ती भी कैसे? अनिल के बाहर रहने से उसके सामने दोहरे खर्च का प्रश्न खड़ा हो गया था। अनिल के लिए उसे ४०० रुपए प्रति माह भेजने पड़ते थे। फिर उसे मिल में मिलता भी क्या था, मात्र ७०० रुपए। ३०० रुपए में उसे अपना घर का खर्च चलाना होता था। आने-जानेवाले मेहमानों का खर्च उठाना पड़ता था। कभी तो हालत यह हो जाती कि उसे विमल बाबू से रुपए उधार तक लेने पड़ते थे। फिर विमल बाबू का अहसान उसके माथे पर छाया के रूप में हर समय छाया रहता। विमल बाबू का घर में आना बढ़ भी गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। अकेलेपन में अवरोध कम होते ही हैं।

माँ कांता को कब और कैसे विमल बाबू ने अहसानों के नीचे दबा लिया, अनिल को इतना पता नहीं, लेकिन उसे अपने बहुत छोटेपन की एक

घटना याद आती है, जब उसके स्वयं के गले में टांसिल थे। दुर्बलता बढ़ती जाती थी। गले में दर्द रहता था। तब विमल बाबू ने दिन-रात एक कर उसका ऑपरेशन करवाया था। उसे सँभालने अस्पताल जाते थे। वह सो जाता तब भी बहुत रात गए तक वह अस्पताल में रहते थे। घंटों बैठे माँ को उसके शीघ्र ठीक हो जाने का विश्वास दिलाते, ढाढ़स बँधाते। उस समय उनकी सेवाओं का वह निहित स्वार्थ नहीं जानता था। आज वे ऐसी सारी करुणा एवं कौटुंबिकता की बातें आग में घी का काम कर रही थी। वे अब उसके लिए प्रेम, सहानुभूति और दया की नहीं, वासना की अश्लील घटनाएँ थी, जिन्हें विचारते भी उसके हाथों की मुट्ठियाँ बँधती थी। भुजाओं की पेशियाँ तनती थी।

दिल्ली से वह अनेक सपने सँजोकर आया था, लेकिन २-४ दिन बाद ही उसकी सारी उत्सुकता प्रतिशोध की आग में जलने लगी। उसका मन घर में नहीं लगता था। बाहर जाने की इच्छा नहीं होती। अपने में घुटता रहता। कभी-कभी माँ काता पर भी उसे क्रोध आता, लेकिन वह माँ थी, क्या करता।

कांता भी क्या करती। जब विधवा हुई थी तब उसकी आयु ही क्या थी? उसने ससार का सुख देखा ही कितने वर्षों था? आर्थिक आधार उसका बन ही कब पाया था? उसने जो कुछ देखा वह बड़ा भयावह था। उसे अनिल की चिंता थी। कहीं किसी के साथ नहीं जा सकती थी। इसलिए विवश होकर उसने अपने पैरों पर खड़ी होने का निश्चय किया। मिल में नौकरी की। नौकरी ऐसे आसानी से थोड़े ही मिल जाती है। वह जानती है, जिसने उसे मिल में नौकरी दिलाने का विश्वास दिलाया था, वह उसका नहीं, विमल का हितैषी था। उसी के इशारे पर उसके पास आने लगा था। उसने विमल बाबू की कितनी प्रशंसा के पुल बाँधे थे। उसे सदी का सबसे बड़ा उदार व्यक्ति बताया। और सही भी है। जब पहली बार वह मिलने पहुँची थी तब विमल बाबू ने उसे कितना सम्मान दिया था। उसी दिन नौकरी दे दी थी। काम पर लगा लिया था। शाम को ५ बजे जब लौटने को थी तब स्वयं आकर पूछा था, “काम समझ लिया न, कर लोगी न?” और तब उसने नीची गरदन किए हलकी मुसकराहट के साथ ग्रीवा हिला-

कर ही कह दिया था, “कर लूंगी, ठीक है।” बिना शब्द के भी अनुभावी चेष्टाओं ने तब बहुत कुछ कह डाला था।

विमल बाबू ने यदि प्रेम की बाँह बढ़ा दी और उसे कांता ने अपनी बाँहों में भर लिया तो क्या अनहोना था ? अर्थ की विवशता, अहसानों का बोझ तथा यौवन की शारीरिक भूख तीनों ने मिलकर उसे विमल के निकट आने के लिए विवश भी कर दिया हो तो क्या आश्चर्य ? अकेलेपन ने विमल को घर तक आने की आज्ञा दे दी हो तो भी अचंभा नहीं। ये सब बातें सहज हैं। कांता ने इसे कभी दुर्बलता के रूप में लिया भी नहीं। नैतिकता की दृष्टि से इस पर विचार करने का अवसर आया भी नहीं। सारा कुछ इतना सहज था कि कब जीवन में वसंत की कोकिल कूक उठी, कब इंद्रधनुष मन के नीलगगन में छा गया, उसे पता नहीं। उसके लिए जैसे यह सब सहज था, आवश्यक था। उसने कभी इसे गहराई से लिया भी नहीं। सहज-सहज सारा हुआ। स्वीकृति से हुआ। जाने में हुआ। इसलिए कही कड़ुवाहट नहीं थी। कही संकोच नहीं था। अस्वाभाविक स्वाभाविक हो गया था। विमल बाबू उसके घर के लिए पराए नहीं थे और न उनके आने के लिए किसी विशेष आतिथ्य की अव आवश्यकता थी। दुनिया जानती थी। वह जानती थी। किसी को कोई गिला भी नहीं था।

लेकिन अनिल के लिए यह सब असह्य हो गया। जब वह अपनेपन को अहमासने लगा, माँ से अपनी पृथक् सत्ता स्वीकारने लगा, अपनी अस्मिता की पहचान उसे हो गई तो ‘वह भी है’ यह भाव उसके मन में दृढ़ मूल हो गया। इसलिए वह अपने अहम्, अपने स्वाभिमान, अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध होते किसी सहज स्वीकृत कांड को भी कैसे सह सकता था। वह आग-बबूला हो उठता, जब भी देखता, विमल बिना किसी औपचारिकता के आता है। घंटों सहजता से रहता है। पलंग पर लेटता है। चाय पीता है। खाना तक खा लेता है। कांता के व्यवहार में अनिल के वहाँ होने न होने से कोई अंतर नहीं आता है। मानो विमल का उस घर में आना कोई अन्यथा बात नहीं है।

दीवान से वह उठ बैठता है। अपने कमरे से देखता है, विमल जा रहा है, कांता पहुँचा रही है। सोचता है अभी हाथ पकड़कर कह दे विमल से

कि कल से वह घर पर नहीं आया करे। वह बढ़ता भी है। दरवाजे तक आकर उसके पाँव ठिठक जाते हैं। जंजीर-सी जकड़ जाती है। स्तंभित-सा खड़ा रह जाता है।

वह सोचता है, पहले माँ से ही कहना चाहिए। वह क्यों बुलाती है? अब तो मैं आ गया हूँ। उसे मेरा भय होना चाहिए। अब मैं कोई निरा शिशु तो नहीं हूँ। मेरा अपना भी 'स्व' है। विमल के प्रति उमड़े क्रोध का उफान बैठ जाता है। वह निर्णय करता है। माँ से ही कहेगा कि इसे यहाँ नही आने दिया करे। मना कर दे। कल से वह इस घर में पैर नहीं रखेगा। कमरे में आकर वह इधर से उधर, उधर से इधर तेज घूमता है। सोचता है माँ से अभी कह देना चाहिए। नहीं... नहीं, अभी नहीं। भोजन करते समय कहूँगा। नहीं... नहीं, भोजन करना ही नहीं है। वह बुलाएगी तो कह दूँगा, खाना नहीं खाऊँगा। वह मनुहार करेगी तो कह दूँगा, तबीयत ठीक नहीं है। नहीं... नहीं, मुझे सीधे अपनी बात कह देनी चाहिए। नहीं कहने से काम नहीं बननेवाला है।

साहस करके वह आँगन में आ जाता है। माँ के कमरे के आगे आकर फिर ठिठक जाता है।

“अरे आ न, मैं तो तुझे बुलाने ही आ रही थी। खाना तैयार हो गया है। गरम-गरम खा ले।”

“नहीं, नहीं, माँ। आज मैं खाना नहीं खाऊँगा।”

“क्यों नहीं खाएगा? तबीयत खराब है क्या?”

“तबीयत तो ठीक है।”

“फिर क्या बात है?”

“माँ... माँ... एक बात कहना चाहता हूँ।”

“कह न, क्या कहना चाहता है? बोल भी...।”

“.....।”

“क्या तेरे लिए खाने को कुछ और बनाऊँ? यहाँ का खाना पसंद नहीं?”

“नहीं माँ, ऐसी बात नहीं, मुझे तो पसंद ही है। वह...।”

“रुक कैसे गया? कह न 'वह' क्या है?”

“माँ, तुझसे कैसे कहूँ!...तुझसे कैसे कहूँ! शब्द होंठ तक आते हैं, बोलना भी चाह रहे है, परंतु...”

“ऐसी क्या बात है जो तू मुझसे नहीं कह सकता। विमल बाबू तेरी शादी के लिए कह रहे थे। विमल बाबू बड़े अच्छे...”

“विमल बाबू...विमल बाबू...मैं यह नाम सुनना भी नहीं चाहता।”

“अरे, वह तो तेरी शादी की बात कर रहे थे। बड़े अच्छे आदमी हैं।”

“मैं अब इस घर में नहीं रह सकता।”

“अरे, तुझे उनका आना बुरा लगता है क्या? वह तो तेरी शादी की बात कर रहे थे।”

“माँ, मुझे नहीं चाहिए उनका सहयोग। मैं कोई शादी नहीं करूँगा। अपने पैरो पर खड़ा होने के बाद ही शादी करूँगा। माँ, मैं कह देना चाहता हूँ, विमल बाबू कल से इस घर में नहीं आएँगे।”

“नहीं आएँगे, यह तू क्या कह रहा है? पागल तो नहीं हो गया? यह तुझे क्या हो गया है?”

“यह मेरा ही अपराध है माँ, कि मैं अपनी अस्मिता को पहचानने लगा हूँ। अब मैं इस घर में नहीं रह सकता। मैं कहीं चला जाऊँगा।”

“क्या मैंने इसी दिन के लिए तुझे इतना बड़ा किया है? पढ़ाया-लिखाया है? तुझ पर ही मैंने अपनी सारी जिदगी काट दी।” काता की आँखें यह कहते हुए भर आती हैं। अनिल मौन रहता है।

“तू बैठ, खाना खा ले, इतना क्रोध मत कर।”

अनिल फिर मौन रहता है।

“बैठ।” बाँह पकड़कर बैठाती है।

अनिल न चाहते हुए भी बैठा है। थाली लगाकर खाना रखती है। लेकिन अनिल के अंदर की आग माँ के आँसुओं से बुझी नहीं, बल्कि और धधकी है। वह एक-दो ग्रास खाते ही उठ बैठा है।

“मेरी तबीयत नहीं। मैं खाना नहीं खाऊँगा।” हाथ धोकर वह कमरे से बाहर चला जाता है।

काता की आँखों पर पड़ी मोह की चादर पहली बार हटती है। उसे अपने बौनेपन का अहसास होता है। अपने ही पुत्र के सामने वह अपने को

लज्जित अनुभव करती है। उसमें जो विमल के आगमन को स्वीकारने का साहस था, वह कपूर की तरह उड़ जाता है। वह अपने भीतर एक घबराहट-सी अनुभव करती है। वह काँपने लगती है। उसे पैरों के नीचे की जमीन खिसकती लगती है। आँखों के आगे तरारे आ जाते हैं। सिर चकराने लगता है। वह अन्यमनस्क-सी पलंग पर बैठ जाती है। उसी भाव में डूबी तकिए पर मुँह रखकर सुबकने लगती है।

अनिल कमरे तक पहुँच तो गया, लेकिन उसका सारा शरीर जैसे जल रहा हो। एक क्रोध की आग भीतर-ही-भीतर धधकने लगती है। आँखें अंगारे उगलने लगती हैं। होंठ सूख जाते हैं। फड़फड़ाते हैं। कुछ कहना चाहते हैं, लेकिन अस्फुट शब्द ही बाहर आ पाते हैं। वह दीवान पर बैठ जाता है और यह कहते हुए कि “विमल कल से इस घर में नहीं आएगा” तकिए पर लुढ़क जाता है। आँखें कमरे की पट्टियाँ गिनने लगती हैं। वह निश्चय करता है कि वह स्वयं आगे आकर विमल से कह देगा, माँ अब मिल में नौकरी नहीं करेंगी। कल से घर से बाहर पैर नहीं रखेंगी। नहीं तो...

कांता अपनी दुर्बलता में डूब तो गई परंतु वह विमल से बिगाड़ करना नहीं चाहती। वह धीरे-धीरे अनिल के कमरे में गई।

“तूने खाना नहीं खाया। कुछ और बना दूँ?”

“माँ, तुम कल से मिल नहीं जाओगी।”

“तेरी नौकरी तो लग जाए। खाएँगे क्या?”

“ऐसे अपमान से भूखा रहना अच्छा है। यदि तुझे मिल में जाना है, तो मैं इस घर में नहीं रहूँगा। यह चला।”

“तू मत जा, मैं कल से मिल में नहीं जाऊँगी। विमल बाबू आएँगे तो उनसे कह दूँगी।”

“नहीं, विमल बाबू यहाँ नहीं आएँगे। यदि वह यहाँ आएँगे, तो मैं उन्हें धक्के देकर निकाल दूँगा।”

“तुझे किसी ने कुछ कह दिया क्या? यह दुनिया तो जलती है। जलती रहेगी। आज हमारे कुछ अच्छे दिन आ गए तो उन्हें सुहाता नहीं।”

“मुझसे किसी ने कुछ नहीं कहा। मेरा स्वाभिमान ही मुझे कचोटता है। मेरी आँखों के सामने...” अनिल जब यह शब्द कह रहा था तभी

विमल बाबू सामने आँगन में दिखे। उन्हें देखते ही अनिल के क्रोध का पारा नहीं रहा। वह उठ खड़ा हुआ। माँ ने हाथ पकड़कर रोका। वह नहीं रुका और जाकर विमल बाबू के सामने खड़ा हो गया। उसका सारा शरीर तन रहा था। कहने के लिए होंठ फड़क रहे थे। आँखें क्रोध में अंगार हो रही थी, परंतु बोल नहीं पा रहा था।

“इसे यह क्या हो गया कांताजी?”

“मैंने कह दिया न, चले जाओ यहाँ से। यहाँ फिर कभी नहीं आना।”

“अरे नहीं... नहीं...। ऐसा मत कह। विमल बाबू बहुत अच्छे आदमी हैं।”

“आप जाते हैं या नहीं... या धक्के देकर निकालूँ?”

विमल को पहली बार झटका लगा। वह सोच नहीं पा रहा है, क्या करे। कांता की ओर देखता है। कांता मौन है। जैसे उसके पास उसके लिए कोई मुसकान नहीं।

विमल अपनी स्थिति देखकर चुपचाप उलटे पाँव लौट जाता है।

“सुनते जाइए। कल से माँ भी मिल में नहीं आएँगी।”

विमल ने शब्द तो सुने पर बिना सुने ही वह आगे बढ़ता रहा।

“माँ, तुम नहीं समझती किसी के स्वाभिमान को पहुँची चोट कितनी गहरी होती है।”

संकल्प

“रूपा, जा पोखर से एक घड़ा पानी तो भर ला। परेंड़े में जरा भी पानी नहीं है। वह काम से आते ही पानी माँगेगे तो कहाँ से पिलाऊँगी ?”

रूपा थी तो कोई ७-८ वर्ष की, पर माँ के काम में हाथ बँटाने लगी थी। घर का बुहारा निकाल देती, पशुओं का गोबर इकट्ठा कर कंड़े थाप देती। बचपन से ही उसकी कद-काठी, नाक-नक्श ठीक थे। दिखने में सचमुच रुपहली थी। उसके रुपहलेपन के कारण ही उसे सब रूपा कहने लगे थे।

रूपा ने पहले घड़े का पानी लोटे में डाला, फिर खाली घड़ा सिर पर धरकर भागती-सी पोखर पर गई। पोखर में भैंसों वैठी लोट रही थी। सारा पानी कीचड़ हो रहा था। पानी भरे तो कैसे भरे। बहुत विचारा, पर उसके मस्तिष्क में कोई विचार नहीं चमका। वह खाली घड़ा लेकर लौट आई। माँ ने खाली घड़ा देखकर पूछा, “क्या हुआ, नहीं गई क्या ?”

“गई थी। पोखर में भैंसों ने सारा पानी कीचड़ बना रखा है, कैसे लाती ?”

“देख, गाँव के कुएँ पर कोई नहीं हो, तो उसमें डुबोकर पानी भर ला। पानी तो पिएँगे। प्यासे थोड़े ही मरेंगे।”

“किसी ने देख लिया तो ? गाँववाले मेरी छुट्टी कर देगे।”

“जा तो सही। यहीं से बातें बना रही है। अभी वहाँ कौन होगा ?”

माँ के कठोर आदेश के अनुपालन में रूपा बिना किसी तर्क के गाँव के कुएँ की ओर चल दी। सचमुच कुएँ पर और आसपास कोई नहीं था।

कुआँ तलहटी में था। उसमें पानी उमगता था। इसलिए किसी डोर की आवश्यकता नहीं थी। घड़े को डुबोकर गाँव के सवर्ण उसमें से पानी लाया करते हैं। अंत्यजों के लिए पोखर से पानी लाने की ग्राम ने व्यवस्था बना रखी थी। कोई अंत्यज कुएँ से पानी नहीं भर सकता था। कुएँ की पाल

तक नहीं चढ़ सकता था। सवर्णों का यही निर्देश था। यही परिपाटी वर्षों से चली आ रही थी तथा अंत्यज भी बिना किसी हिचक व नन-नुच के इसका पालन करते आ रहे थे। रूपा ने चारों ओर देखा कि कोई नहीं है, घड़ा पानी में डुबाया और पूरा भरते ही उसे उठाकर सिर पर धर लिया। घर की ओर जैसे ही चलने लगी, खाती का लड़का किशोर गली से अचानक आ निकला। किशोर को देखते ही रूपा थर-थर कांपने लगी पर उसने हिम्मत नहीं हारी। उसने अपनी चाल तेज कर दी।

“कहाँ जाती है? कुएँ से पानी भरा न? तेरी इतनी हिम्मत! हरिजन होकर हमारे कुएँ पर कैसे चढ़ गई? ठहर, देखता हूँ तुझे।”

रूपा पानी भरने का परिणाम जानती थी। वह ठहरी नहीं और तेजी से अपने घर की ओर चल दी। हरिजन थी। हरिजनो से पूरा गाँव छुआछूत करता था। किशोर भी करता था। इसलिए उसने उसे पकड़ा नहीं।

बोला, “जा रही है? नहीं रुकती? देखता हूँ तू भी गाँव में कैसे रहती है? घरवालों की बोटी-बोटी नहीं नुचवा दी तो मेरा नाम किशोर नहीं। तूने सारे गाँव का पानी मेट दिया। गाँववाले अब क्या पीएँगे?”

किशोर क्रोध से बड़बड़ाता रहा। रूपा रुकी नहीं। सीधे घर जाकर घड़ा परेंड़ी पर रख दिया।

“क्या हुआ, घबरा कैसे रही है? किसी ने देख लिया क्या?” माँ ने पूछा।

“हाँ, खातियो के किशोर ने। जब मैं आ रही थी तो उसने देख लिया। कहने लगा, ‘देखता हूँ तू गाँव में कैसे रहती है? सारे घर की बोटी-बोटी नुचवा दूँगा।’”

“गजब हो गया रूपा, गजब हो गया। यह गाँव हमें छोड़ना ही पड़ेगा। अब गाँववाले हमें गाँव में नहीं रहने देंगे। तेरे पिता आ जाएँ। यह किशोर बड़ा आवारा है। इसको कोई काम नहीं। दिन-भर गाँव में घूम-घूमकर बहू-बेटियों को बुरी नजर से देखता रहेगा। वह बड़ा बुरा व्यक्ति है। सारे गाँव में आग लगा देगा। हमारा घर, हमारा सारा सामान जला देगा।” माँ ने कहा।

वही हुआ। सारा गाँव “इसे गाँव से निकालो, इसे बड़ा अभिमान हो

गया है, सिर पर ही चढ़ने लगा है,” कहता रूपा के घर के सामने आकर इकट्ठा हो गया। रूपा को उन पर क्रोध तो बहुत आ रहा था, पर बच्ची थी, क्या करती। रूपा की माँ बाहर नहीं निकली।

तभी रूपा का पिता काम से लौट आया। उसके कंधे पर गेती थी। गेती एक ओर डालकर वह सबके सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

“मुझसे क्या अपराध हो गया?” रूपा के पिता ने कहा।

“देखा नहीं, रूपा हमारे कुएँ से पानी भर लाई। सारा कुआँ बिगाड़कर धर दिया। हम लोग कहाँ से पानी पिएँगे?” भीड़ में से एक ने कहा।

“सा’बजी, अपराध क्षमा हो। बच्ची है, नासमझ है। पोखर में पानी नहीं होगा तो भर लाई होगी।” रूपा के पिता ने बड़ी नम्रता से कहा।

“पोखर में पानी कब सूख गया? सारी भैंसें तो दिन-भर से पानी में पड़ी हैं।” भीड़ में से दूसरे व्यक्ति ने कहा।

“पानी गँदला होगा, सा’बजी। पीने योग्य नहीं होगा। हम भी आदमी है, जानवर तो नहीं। उस गँदले पानी को कैसे पीते?” रूपा के पिता ने कहा।

“यह गड्डों पर मजदूरी करने क्या जाने लगा, इसके भाव बढ़ गए हैं। गाँव की टट्टियाँ भी साफ नहीं करता। इसे गाँव में रखने से हमें क्या लाभ?” भीड़ में से तीसरे ने कहा।

“सा’बजी, हमें भी जीने और दो पैसे कमाने का अधिकार है। मेरे पास पैसे हो गए तो आप सब जलने लगे हैं। मुशीजी कह रहे थे, छुआछूत करने-वालों को सजा हो सकती है।” रूपा के पिता ने कहा।

“अब हमें कानून भी पढ़ाने लगा! कानून को धर अपनी जेब में। हम भंगी के साथ भंगी कैसे हो जाएँगे?” पहले व्यक्ति ने फिर गरजकर कहा।

“मगना!” रूपा के पिता का नाम मगना था। “अब तू गाँव छोड़कर चला जा। नहीं तो तेरी खैर नहीं। तू कल ही यहाँ से बोरिया-बिस्तर बाँधकर रफूचक्कर हो जा। यहाँ कानून-वानून नहीं चलेगा, लट्ठ चलेगा।” किशोर ने अकड़कर कहा।

“बोल, जाएगा या नहीं?” दूसरे व्यक्ति ने आगे आकर कहा।

“सा’बजी, आप मुझे गाँव में नहीं रहने देगे, तो कहीं और जाकर

टापरी बाँध लूंगा। भगवान् आपको भी आराम से नहीं रहने देगा, यह समझ लेना।” रूपा के पिता ने कहा।

“तू हमें धमकी दे रहा है ! बड़ा कानूनदाँ बना फिरता है। कल गाँव में तेरी सूरत नहीं दिखनी चाहिए। नहीं तो तेरी टापरी में आग लगा दी जाएगी।” तीसरे व्यक्ति ने कहा।

“आप गाँववाले नहीं चाहते तो चला जाऊँगा।” रूपा के पिता ने उसाँस छोड़ते हुए कहा।

मगना गाँव से चलकर दूर के एक कस्बे में आ गया। वैसी ही एक छोटी-सी टापरी बना ली। मुंशीजी ने उसे गड्ढे खोदने के लिए दूसरे ठेकेदार के यहाँ रखवा दिया। उसका काम चल निकला। वह हरिजन था तो, पर वर्षों से हरिजनों के काम नहीं कर रहा था। और लोगों की तरह मेहनत-मजदूरी करके पेट भर रहा था। इससे उसके पास कुछ पैसे भी जमा हो गए थे। उसका रहन-सहन भी बदल गया था। रूपा और रूपा की माँ को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वे हरिजन हैं। फिर भी स्वभाववश मगना और रूपा की माँ अपने को बचाकर अलग जीने के अभ्यासी हो गए थे।

कस्बे में सरपंच के निर्देश पर पाठशालाओं में अधिकतम बच्चों को प्रवेश दिलाने का अभियान चल रहा था। लोगों ने रूपा को भी पाठशाला में प्रवेश दिलवा दिया। रूपा प्रारंभ से ही कक्षा में होनहार छात्रा निकली। आयु में भी बड़ी थी। समझदार थी। वह उस वर्ष पहली कक्षा में प्रथम आई। दूसरी कक्षा में भी रूपा प्रथम आई। जिन दिनों रूपा तीसरी कक्षा में पढ़ रही थी, उन्हीं दिनों अपने किसी रिश्तेदार लड़के से मिलने किशोर उसी पाठशाला में आया। जब वह तीसरी कक्षा के निकट से निकल रहा था तो उसकी दृष्टि रूपा पर पड़ी। रूपा भी किशोर को देखकर सहम गई।

किशोर ने कहा, “अरी रूपा, तू ?”

रूपा कुछ नहीं बोली। अध्यापक ने पूछा, “किसे खोज रहे हो ?”

किशोर ने कहा, “कक्षा सात में मेरे मामा का लड़का विवेक पढ़ता है। उससे मिलने आया था। यह तो हरिजन लड़की है।”

“हरिजन लड़की ? यहाँ तो इसने अपनी जाति पँवार लिखा रखी है।

क्यों रूपा, तुम हरिजन हो ?” अध्यापक ने पूछा ।

“नहीं तो, हम तो पँवार है । मेरे पिता वर्षों से गड्ढे खोदने का काम करते हैं ।”

“गड्ढे खोदते हैं तो उससे क्या जाति बदल जाती है ? जाति तो जन्म से होती है ।” किशोर ने कहा ।

“श्रीमान्, कल आप पढ़ा रहे थे जाति कर्म से होती है ।” रूपा ने अध्यापक से कहा ।

रूपा के वाक्चातुर्य और प्रत्युत्पन्नमति देखकर अध्यापक सकते में पड़ गए । अध्यापक ने बात बिगड़ती देखकर किशोर से कहा, “अच्छा, आप अपना काम करें । बच्चों को पढ़ने दीजिए ।”

अध्यापक के कहने पर किशोर वहाँ से चल तो दिया, पर यह बात सारी पाठशाला में फैलते देर नहीं लगी कि रूपा राजपूत नहीं, हरिजन है । पँवार इसका गोत्र है । कभी इसके पूर्वज क्षत्रिय रहे होंगे । पराजित होने पर इनसे जबरन हरिजन का काम लिया गया होगा । तब से ये हरिजन है ।

अध्यापक को रूपा से सीधे यह कहते तो नहीं बन पड़ा कि ‘रूपा, तू पाठशाला मत आया कर’, लेकिन उन्होंने उसे पीछे एक ओर अलग बैठाना प्रारंभ कर दिया । अब छात्र भी उससे घुलने-मिलने में आपत्ति करने लगे । कक्षा में उससे कोई नहीं बोलता । अब अध्यापक उससे उतना स्नेह नहीं करते । उसका पानी का नल अलग कर दिया गया । उसके बैठने की कक्षा में अलग जगह नियत कर दी गई । इस वर्ष वह कक्षा में प्रथम नहीं आई । सारे तिरस्कारों के बावजूद उसने साहस नहीं छोड़ा । उसने परिस्थितियों से लड़ने का मानस बना लिया । घर का काम करती, फिर भी पढ़ती । परिणामतः कक्षा चार में वह फिर प्रथम आई । कस्बे में माध्यमिक श्रेणी तक पाठशाला थी । रूपा ने संघर्ष करते-करते माध्यमिक कक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली । उसकी आयु १६ वर्ष के लगभग हो चुकी थी । वह यौवन की ड्योढ़ी पर खड़ी थी । उसकी बड़ी-बड़ी आँखें, भरे-भरे गाल, लंबा मुख साँवला रंग होते हुए भी उसे एक अपूर्व शोभा दे रहे थे । उसका पिता भी मजदूरी अधिक लाने लगा था, इसलिए उसका रहन-सहन भी विद्यालय में विशेष हो गया था । वह बड़ी आकर्षक लगने लगी थी ।

रूपा ने अपने पिता मगना से आगे पढ़ने की हठ की। उसके माता-पिता भी उसके प्रथम आते रहने से प्रसन्न थे तथा उसे आगे पढ़ाना चाहते थे। लेकिन कस्बे को छोड़ना नहीं चाहते थे। क्या करते !

जिन दिनों वह कक्षा आठ में पढ़ रही थी तभी उसकी उभरती देह पर युवा अध्यापक अरविद की कुदृष्टि पड़ी। वह किसी-न-किसी प्रकार उसे चंगुल में फँसाने के लिए उद्यत रहता। उसने उसके साथ एक चाल चली। पाठशाला में वार्षिकोत्सव मनाने के बहाने एक नाटक खेलने का निश्चय किया। उसने उस नाटक में रूपा को नायिका का काम दिया। अभ्यास के दिनों में अरविद और रूपा बहुत निकट आ गए। यौवन एक ऐसी यात्रा है, जो प्रेम के पथ पर बढ़ते तो बढ़ जाता है, पर बढ़कर लौटता नहीं। अरविद जब भी रूपा को देखता, उसकी आँखों में सहज हँसी पलास-पुष्प-सी खिल उठती। रूपा इसका अर्थ नहीं समझती हो, ऐसा नहीं था। लेकिन वह अपनी जाति, अब तक की शाला में अपनी उपेक्षा तथा अध्यापकों के संकुचित व्यवहार से कुठित थी। उसके मन में अध्यापकों के प्रति घृणा का भाव भी जड़ पकड़ गया था। इसलिए वह अरविद के मौन निमंत्रण का सकारात्मक उत्तर देते कतराती रहती थी। आँखे नीची कर लेती। आँखें नीची कर लेने में भी एक स्वीकृति थी, परंतु किसी समाधान की अपेक्षा उसमें थी। वह 'हाँ' और 'न' के बीच की एक ऐसी स्थिति थी, जो मनुहार और सम्मान के पटल पर खड़ी होने पर, स्वीकृति में बदल सकती थी। अरविद भी युवा था। वह अकेला था। बाहर के प्रदेश का था। नौकरी इधर मिलने पर चला आया था। इसलिए उसके सामने कोई बंधन-बाधा नहीं थी। वह निरंतर रूपा की ओर अग्रसर होता रहा। और एक दिन एकात में उसने रूपा का हाथ पकड़ लिया, "रूपा, मैं तुझे प्यार करता हूँ। तेरे साथ शादी करना चाहता हूँ।"

रूपा ने इस प्रथम निमंत्रण का कोई उत्तर नहीं दिया। उस समय वह हाथ छुड़ाकर चली गई। अब अरविद और रूपा अध्यापक और छात्रा के रूप में शाला में नहीं मिलते। एक प्रेमी और प्रेमिका के रूप में मिलते। रात्रि को नाट्य के अभ्यास के बाद लौटते।

एक रात अरविद ने एक अँधेरी सूनी गली में रूपा का हाथ पकड़ लिया,

“रूपा, तुझे ‘हाँ’ कहना ही पड़ेगा। मैं तेरे बिना नहीं रह सकता। इन आँखों में देख, तेरे अतिरिक्त किसी की छवि नहीं है।” अरविद ने बड़ी अनुनय-विनय करते हुआ कहा।

रूपा का उभरता यौवन भी मौन नहीं रहा। किसी जीवनसाथी की खोज में तो थी ही वह। अरविद उसे जीवनसाथी मिलता है तो इसमें अच्छा उसके लिए क्या है। उसने अधरो में मंद-स्मित धरे पलकों को उठाकर कहा, “हाथ आज के लिए ही थाम रहे हो या जीवन-भर के लिए?”

“यह क्या कहा रूपा? मैं तुम्हें अपनी जीवनसंगिनी बनाना चाहता हूँ।” अरविद ने कहा।

“विश्वासघात तो नहीं करोगे?” रूपा ने पूछा।

“तू जिसकी कहे उसकी सौगंध रूपा, मैं जनम-जनम के लिए तेरा हो गया हूँ। चल, घर चले। यहाँ कोई आ निकला तो...” अरविद ने कहा। रूपा इस अप्रत्याशित निमंत्रण को नहीं टाल सकी।

छुट्टियों में अरविद गाँव नहीं गया। रूपा के लिए वही रुक गया। इसी बीच अरविद और रूपा का मिलना निरंतर बढ़ता रहा।

इधर कस्बे में जँमे ही यह संवाद फैला कि रूपा हरिजन है और उसका पिता अपनी जाति छिपाकर पँवार राजपूत बना हुआ है, उसके प्रति रोष की भावना तीव्रता से फूट पड़ी। परंतु मगना ने हिम्मत नहीं हारी। वह यही कहता रहा, “मैं पँवार वंश का हूँ। मैं वर्षों से ठेकेदार के पास मजदूरी करके पेट भर रहा हूँ। कभी मेरे बाप ने हरिजन का काम किया होगा। मैं वह काम नहीं करता। मेरे बाप के कर्म से मुझे क्यों जोड़ा जा रहा है। यह कहाँ का सामाजिक न्याय है। मेरी जाति मेरा वर्तमान कर्म है।”

लेकिन कुछ पाँगापंथी लोग, जो अपने हित के लिए लोगों को जातियों में बाँटकर दबाए रखना चाहते हैं, कब शांत होनेवाले थे। सघर्ष की स्थिति आ ही गई। रूपा और अरविद का प्रेम-प्रसंग जलते को एक और पलीते के रूप में मिल गया।

“हरिजन होकर ब्राह्मण का धर्म बिगाड़ रही है! निकालो इनका कस्बे से।” आवाज गाँव में गूँज उठी।

रूपा को आगे पढ़ने की जिद थी। इसलिए वह शहर जाना चाहती

थी। उसने पिता के सामने कस्बे को छोड़कर शहर चलने का प्रस्ताव रखा। रूपा मगना की एकमात्र संतान थी इसलिए वह घर की प्यारी थी। उसकी छोटी-से-छोटी इच्छा पूरी की जाती। पेट काटकर भी उसे अच्छे कपड़े पहनाए जाते। लेकिन मगना को यह बात अच्छी नहीं लगी कि वह गाँव-वालों के विरोध पर कस्बा छोड़कर चला जाए। वह डटा रहा। कस्बे-वाले उसके रक्त के प्यासे हो गए। उसे कस्बे में फूटी आँख नहीं देखना चाहते थे। एक रात को जब मगना काम से लौट रहा था, किसी ने घात लगाकर उसकी हत्या कर दी।

रूपा पर जैसे गाज गिरी थी। उसने छाती पर पत्थर धरकर इस वज्र-पात को सहा। पिता की जघन्य हत्या ने रूपा के मन में एक तीव्र आक्रोश भर दिया। उसने हर स्तर पर सामाजिक अन्याय से लड़ने का निश्चय कर लिया। उसने आगे पढ़ने का मानस बनाकर उन लोगों को उत्तर देने का निश्चय किया जो नारी को मात्र चूल्हे-चक्की की अधिकारी समझ आज तक उसका शोषण करते रहे हैं। उसे पाँव की जूती से अधिक आज तक नहीं माना। जिन्होंने नारी की स्वतंत्रता का हनन कर, उसके विकास के सारे मार्ग अवरुद्ध कर रखे हैं।

रूपा ने सारी जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों और पोंगापंथी मान्यताओं को मिटाकर एक स्वस्थ, सुंदर और समन्वयी परंपरा के निर्माण का संकल्प किया। वह उस कस्बे में, जिसने उसके पिता की हत्या की, एक दिन भी नहीं रहना चाहती थी। उसकी माँ ने उसे इतनी उतावली न करने के लिए समझाया, परंतु उसने एक नहीं सुनी। उसने अपनी माँ को अपने साहसिक वचनों से आश्चस्त कर दिया।

“माँ, मैं तेरी लड़की नहीं, लड़का हूँ। तू चिंता मत कर। मैं चाहे जितना कष्ट पा लूँ, लेकिन तुझे कष्ट नहीं होने देंगी। मैं पढ़ूँगी। पढ़ने से ही हमारी समाज में मान्यता होगी। मैं कुछ कर दिखा दूँगी। तू मेरे साथ शहर चल। हम दोनों वहीं रहेंगे। यहाँ हमारे लिए अब कौन-सा सम्मान बचा है?”

अरविंद ने रूपा के संकल्प की सराहना की। वह चाहता भी था कि रूपा शहर चली जाए। उसने पहले जाकर उसके लिए एक नई बस्ती में दो

कमरे किराए पर ले दिए। सच में तो ये कमरे अरविंद ने ही लिए थे, लेकिन उसने कमरे के बाहर 'रूपा पँवार' लिखकर एक नामपट्टिका जड़ दी। अरविंद ने सारा खर्चा उठाकर रूपा को निकट के उच्च माध्यमिक विद्यालय में प्रवेश दिलवा दिया तथा माँ को झाड़ा-बुहारा करने के लिए एक निजी शिक्षण संस्था में लगवा दिया। उसे अच्छा वेतन मिलने लग गया। घर का काम चल निकला।

रूपा ने अपनी योग्यता, अपने रूप तथा अपने चांचल्य से सारे विद्यालय को अपना बना लिया। उसके हृदय में धधकती आग ने उसे एक ओजस्वी वाणी दे दी, जिसने उसे विद्यालय का एक अच्छा वक्ता बना दिया। उसके कंठ से विद्रोही स्वर गूँजते। उसने श्रमधरा की 'दरिद्रनारायण' कविता को कंठस्थ कर लिया। जब वह बोलती तो श्रोता झूम उठते, वे भी उसके साथ दुहराते :

“ओ दरिद्रनारायण, अपने भी अधिकार जरा पहचानो।”

रूपा ने प्रथम श्रेणी में उच्च माध्यमिक परीक्षा उत्तीर्ण की। उसकी प्रशंसा दूर-दूर तक होने लगी। एक तो वह युवा थी, दूसरे महिला। वह नगर की सभी राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं में बढ़-चढ़कर भाग लेने लगी। उसने संकल्प लिया कि वह जीवन-भर नारियों और दरिद्रों के उत्थान के लिए कार्य करेगी और समाज को शोषणमुक्त बनाने के लिए अन्यायों के विरुद्ध संघर्ष करती रहेगी। वह नगर की एक जुझारू संस्था 'महिला उत्थान परिषद' की सदस्य हो गई। जब वह देखती कि पुरुष जन्म से लेकर मरण तक नारी का शोषण करते हैं; उसे स्वतंत्रता की हवा तक जीने के लिए नहीं देते, तो वह और भी अधिक व्यग्र होती और नारी-मुक्ति के लिए दूने जोश से लग जाती।

नारियों की सभा में जहाँ भी वह जाती, एक ही बात कहती, “नर और नारी दोनों एक ही समाज हैं। दोनों के शरीर में एक ही रक्त बहता है। जो काम पुरुष कर सकते हैं वही नारी कर सकती है। पुरुषों ने प्रारंभ से ही नारी के पैरों में बेड़ियाँ डाल रखी हैं। उसे स्वतंत्र होकर सोचने का ये अवसर देना ही नहीं चाहते हैं। आवश्यकता है, अवसर और वातावरण की उपलब्धि की, आर्थिक दृष्टि से नारी के आत्म-निर्भर होने की।”

वह कहती कि “महिलाओं की दशा में तब तक सुधार नहीं होगा जब तक पुरुष-समाज का नारी के संबंध में दृष्टिकोण नहीं बदलता।” प्रशासन को और सत्ता को कोसते हुए वह कहती कि “जब तक अनिवार्य और निःशुल्क नारी-शिक्षा नहीं होगी, तब तक नारी अपने पैरो पर नहीं खड़ी होगी। नारी-शिक्षा न केवल दरिद्रता मिटाएगी, बल्कि अन्याय के विरुद्ध खड़े होने का साहस देगी तथा नर और नारी के बीच समानता का पक्ष प्रशस्त करेगी।”

जब वह कहती कि एक दिन वह आएगा जब नारी पुरुष के शोषण से मुक्त होकर रहेगी, तब तालियों की गड़गड़ाहट के बीच श्रोताओं में से आवाज गूँजती, “दलितों की मसीहा रूपा जिदाबाद।” ‘जिदाबाद-जिदाबाद’ की आवाजों से हॉल गूँज जाता। संगठन के प्रति पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में समर्पित भाव से कार्य करने से सचमुच रूपा दरिद्रों की मसीहा बन गई। कभी वह महिलाओं का बड़ा जुलूस लेकर निकलती तो कभी वह महिलाओं की बड़ी सभा में गूँजती दिखती।

गाँव की टापरी से उठकर शहर में आई रूपा दरिद्रों की मसीहा के रूप में सर्वत्र जानी जाने लगी। यह सब उसके त्याग, उसकी सेवा तथा उसके निर्भीक संकल्प का ही परिणाम था। कोई दिन ऐसा नहीं जाता, जब नगर के दैनिक समाचार-पत्रों में उसका जयकार नहीं छपता। रूपा जन-मन पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ती हुई निरंतर आगे बढ़ती चली गई। सारे विरोध अपने-आप समाप्त हो गए। वह दरिद्रों की मसीहा के रूप में जानी जाने लगी।

भविष्यदृष्टा

दोनों ने पहुँचते ही बाबा के पुनीत चरणों में मत्था टेका। बाबा निर्गुण संत हैं। आत्मा में परमात्मा के दर्शन कर चुके हैं। बाबा के पास अग्निनी और सूर्या ही पहुँचे हों, ऐसा नहीं है। बाबा के पास पहुँचनेवालों का अबाध क्रम चलता रहता है। बाबा की ऐसी ही ख्याति है। वह मनुष्य-देह में भी त्रिलोकी के स्वामी हैं। उनका दृष्टि-प्रसाद कल्याण के लिए पर्याप्त है। बाबा इस आश्रम में आए नहीं हैं, बल्कि बाबा के लिए ही आश्रम खड़ा हो गया है। अन्यथा जब बाबा आए थे तब पहाड़ी हरी तो थी पर सूनी थी। नीचे कलकल करती नदी की पतली धार अवश्य बहती थी। परंतु अब वहाँ आश्रम है, चिकित्सालय है, वेदशाला है, मुद्रणालय है और है विशाल धर्म पुस्तकालय, जिसमें धार्मिक पुस्तकें पढ़नेवालों की भीड़ लगी रहती है।

सूर्या पहली बार जब आश्रम में आई, तब किशोरी थी। छुट्टियों में कोई काम नहीं था, इसलिए माँ के साथ कुछ सहेलियों को लेकर चली आई थी। अध्ययन में उसकी प्रारंभ से ही बड़ी रुचि थी। उसने हर कक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी। महाविद्यालय में प्रवेश के सपने उसे गुदगुदाने लगे थे। वह क्या-क्या विषय लेगी। कौन-कौन प्राध्यापक किस-किस विषय में है। इस विषय को लेगी तो उसे ये प्राध्यापक पढ़ाएँगे। वह विषय लेगी तो वे प्राध्यापक पढ़ाएँगे। सहेलियाँ अच्छे-बुरे की शल्य-क्रिया कर डालतीं।

प्राध्यापकों के अच्छे-बुरे के विश्लेषण के साथ अंतिम निर्णय यही रहा था कि वह दर्शन, संस्कृत और सोशियोलोजी लेगी। उसको दर्शन की पुस्तकें पढ़ने की प्रारंभ से ही रुचि थी। आश्रम के पुस्तकालय में जैसे ही सूर्या ने सहेलियों के साथ खिलखिलाते प्रवेश किया, तो सारे पाठकों ने उसे और उसकी सहेलियों को पूरे मनोयोग के साथ देखा। लेकिन सूर्या सौंदर्य में सबसे अधिक लुभावनी लगती थी। सबसे बड़ी भी लगती थी, इसलिए सारी

दृष्टियाँ उसी पर केंद्रित हों, यह स्वाभाविक था।

वह सहेलियों के साथ सीधी पुस्तकालयाध्यक्ष के पास पहुँची। सभी सहेलियों ने पुस्तकालयाध्यक्ष की मेज घेर ली। एक ने पुस्तकें लेने की प्रक्रिया पूछी। दूसरी ने पूछा, “आपके पुस्तकालय में दर्शन की पुस्तकें हैं?”

उत्तर मिले इससे पहले तीसरी ने कहा, “यहाँ ही नहीं होंगी तो कहाँ होगी?”

पुस्तकालयाध्यक्ष ने कहा, “हैं तो, लेकिन आपको क्या चाहिए?”

सूर्या ने कहा, “गीता पर विनोबाजी का लिखा भाष्य।”

पुस्तकालयाध्यक्ष ने सूर्या का मुख दोनों आँखें गड़ाकर देखा। देखता रहा। उसे आश्चर्य हो रहा था। आज जो भी आ रहा है वही विनोबाजी का गीता-भाष्य माँग रहा है। क्या बात है। मन ही मन उसने प्रश्न किया। फिर कहा, “है तो, लेकिन आज ही उन भाई साहब ने उसे अपने नाम निकलवाया है। आप उनसे मिल लें। यदि वह बाद में पढ़ लें तो आप उनसे ले जाएँ।”

एक सहेली ने पूछा, “एक ही प्रति है क्या?”

पुस्तकालयाध्यक्ष ने उत्तर दिया, “हाँ। आप और कोई पुस्तक ले लीजिए। गीता पर और भी अनेक भाष्य हैं।”

दूसरी सहेली ने कहा, “नहीं, हमें विनोबा ही पढ़ना है।”

सूर्या ने कहा, “आओ चलें, उन्हीं से बात करें।”

पुस्तकालयाध्यक्ष का पिंड छोड़कर सभी उस ओर मुड़ चलीं।

अश्विनी महाविद्यालय में दर्शन का विद्यार्थी है। गीता के विनोबा-भाष्य को वह गर्मियों की छुट्टियों में पढ़ लेना चाहता था। गीता के कर्म-फल ने उसे जितना प्रभावित किया है, उतना सांख्य ने नहीं। वह एक ओर मेज पर बैठा दर्शन की पत्रिका पढ़ रहा है। लड़कियों के उत्साह और उल्लास-भरे समूह में एकाएक अपने को घिरा पाकर वह सहम गया। विचारों की छिपकलियाँ रेंग गईं। वह ऊँची ग्रीवा कर उन्हें भरपूर देखे, उससे पहले सूर्या ने एक लंबा प्रश्न फेंकते हुए उससे पूछ लिया, “आपको विनोबा का गीता-भाष्य अभी नहीं पढ़ना हो तो हमें ले लेने दीजिए। हम जल्दी ही पढ़कर लौटा देंगे।”

“मैंने पढ़ने के लिए ही उसे निकलवाया है।” अश्विनी ने कहा।

“ओह, आप फिर पढ़ लेना न।” एक सहेली ने कहा।

“आप फिर नहीं पढ़ सकतीं?” अश्विनी ने कहा।

“फिर पढ़ लेती तो आपके पास आती ही क्यों?” दूसरी सहेली ने कहा।

“यह मैं जानता हूँ, लड़की का धन पराया होता है, पर अभी आप पराई नहीं होनेवाली है। प्रतीक्षा कर सकती हैं।” अश्विनी ने जैसे ही कहा, दोनों सहेलियों की हँसी ही नहीं उड़ी, मुख पर हवाईयाँ भी उड़ने लगीं।

सूर्या ने परिस्थिति को भाँपते हुए स्मित-भरे नयनों से उसे देखते हुए विनम्रता से कहा, “दे दीजिए न। हम खा थोड़े ही जाएँगी। आपकी पुस्तक इसी हालत में परसों लौटा देंगी। आप कहें तो यहाँ पहुँचा देंगी और घर की कहें तो घर पहुँचा देंगी।”

सूर्या के रूप और नयन-भंगिमा ने अश्विनी के मन पर जादू का-सा काम किया। उसका ‘न’ ठंडा पड़ गया। उसने पूछा, “आप मेरा घर जानती हैं?”

“जानती नहीं तो जान लूँगी।” सूर्या ने उत्तर दिया।

“आपने पुस्तक परसों नहीं पहुँचाई तो?” अश्विनी का प्रश्न था।

“हम ऐसी-वैसी नहीं हैं। खानदानी हैं। आप घर का पता तो बता दे।” सूर्या ने कहा।

सहेलियाँ यह देखकर हतप्रभ थीं कि जो लड़का उन्हें नट रहा था, अब मोम-सा पिघल गया।

“एक ख २७, हनुमान नगर। पार्क है न, उसी के पास।” अश्विनी ने कहा।

“फिर तो कोई दूर नहीं है आप। मैं पंचवटी में रहती हूँ। सड़क ही बीच में है।” सूर्या ने उत्तर दिया।

“देखिए, ऐसा न हो कि आप नहीं आएँ। मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगा।” अश्विनी ने यह कहते हुए विनोबा भाष्यवाली पुस्तक सूर्या को दे दी।

सूर्या ने पुस्तक सहित बद्धांजलि अश्विनी को स्मित-भरे नयनों से नमस्कार किया। अश्विनी उस अप्रतिम सौंदर्य को देखकर कुछ क्षण के लिए

खो-सा गया। वह शील और सौंदर्य, आँखों में ही न टिका रहा, नीचे हृदय तक उतर गया।

सूर्या और सहेलियों का खिलखिलाता हुआ समूह पुस्तकालय से निकल बाबा की ओर गया, जहाँ उन्होंने माँ को छोड़ा था। माँ प्रतीक्षा करते-करते उकता गई थी। मन-ही-मन कुढ़ रही थी, 'न जाने कहाँ चली गई! कोई रक्षा करे तो कैसे करे! बाँधकर रखने की चीज हो तो उसे बाँधें भी। यही तो उम्र है जब बाँधने की आवश्यकता होती है। मैं साथ आई तो क्या हुआ, माँ का साथ तो बहाना होता है। करती वही है जो इनके मन में होता है।' वह कभी आश्रम के बाहर पड़ी बेंच पर बैठती, कभी इधर-उधर झाँकती। पर न उसे सहेलियाँ दिखतीं, न सूर्या। वह बाबा के दर्शन कर चुकी थी।

आश्रम में कोई मंदिर नहीं था। न कोई मूर्ति थी। बाबा ही मंदिर थे और बाबा ही मूर्ति। उनके दर्शन ही सबसे बड़ी साधना, प्रार्थना थी। वह जाए तो जाए कहाँ? इन्हीं गुत्थियों में उलझ रही थी कि उसे सूर्या की आवाज सुनाई दी। तब जाकर उसकी अधीरता को विराम लगा। क्रोध तो उसे बहुत आ रहा था। अभी उसे भला-बुरा कहे। पर वह जानती थी, उसकी बात व्यर्थ जाएगी। यह कोई बात सुनने की उम्र नहीं है। इसलिए उसके आने पर उसने इतना ही कहा, "बहुत देर लगा दी। अच्छी किताबें पढ़ी!"

"अम्माँ, अभी पढ़ी कहाँ है, अभी तो लाई हूँ।" सूर्या ने कहा।

"यह पुस्तक एक लड़के ने पहले ही अपने नाम निकलवा ली थी।" एक सहेली ने कहा।

"बच्चू से हम ले ही आई।" दूसरी सहेली ने कहा।

"अब फिर इसे देने आना पड़ेगा?" माँ ने कहा।

"नहीं अम्माँ। वह तो अपने ही पास, हनुमान नगर में रहता है," सूर्या कहे उससे पहले ही तीसरी सहेली ने कहा।

"चलो चलें। तुम्हारे पिताजी प्रतीक्षा कर रहे होंगे," माँ ने कहा और चल दी। सूर्या और सहेलियाँ भी उसके पीछे-पीछे गपशप लड़ाती चल दीं। उनकी बातचीत का विषय उस लड़के पर उनकी विजय ही था। हर कोई

अपनी हाँक रहा था। कोई इसे नहीं स्वीकार रहा था कि पुस्तक केवल सूर्या का शील और सौंदर्य ही लाया है।

अश्विनी, बाबा के पट्टशिष्यों में था। बाबा की उस पर बड़ी कृपा थी। बाबा उसे भौतिक जगत् के कर्मकांड के रहस्यों की पृष्ठभूमि का यथार्थ बताते रहे हैं। कभी वह कहते, “परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। उसका कोई रूप नहीं है। वह समान रूप से व्याप्त परम चैतन्य सत्ता है, जो प्रकृति को आवृत भी किए है और प्रकृति से पृथक् भी है। वह प्रकृति नहीं है। न प्रकृति वह है।”

अश्विनी कभी पूछता तो वह बताते, “मंदिर की मूर्तियाँ ध्यान को केंद्रित करने का माध्यम है। ये परम श्रद्धास्पद आत्मज्ञों की आकृति हैं जिनके देवत्व की कल्पना शास्त्रकारों ने अपनी पुस्तकों में अंकित की है। शास्त्र के माध्यम से सब उन्हें परम पुरुष का अवतार मानते हैं। परम पुरुष का अवतार नहीं होता। व्यक्ति में जो परम सत्ता का अंश होता है, जिसे हम आत्मा या भौतिक हेतु से जीव कहते हैं, उसी का इतना विस्तार होता है, जो परम सत्ता रूप ही हो जाता है।”

अश्विनी बीच में बात उठाता, “बाबा, जैसे आप है?”

बाबा कोई उत्तर नहीं देते, हलका-सा मुसकराते।

अश्विनी पूछता, “फिर बाबा, मंदिर पर फूल, अक्षत, चदन, भेंट जो कुछ भी चढ़ाया जाता है, वह पुण्य का हेतु कैसे होता है?”

बाबा कहते, “इससे श्रद्धा में वृद्धि होती है। मन बाह्य से हटकर भीतर केंद्रित होता है। भावना भौतिक के स्थान पर आध्यात्मिक रूप ग्रहण करती है। यह अच्छा है। कभी-कभी श्रद्धा इतना विस्तार पा जाती है कि तादात्म्यवाली स्थिति आ जाती है। यह इसका आध्यात्मिक पक्ष है। भौतिक पक्ष है, पुजारी की व्यवस्था। कण-कण से मन जुड़ता है। पैसे-पैसे से धन। वह उस मंदिर को स्वच्छ रखता है। पूजा-अर्चा करता है। आरती करता है। भोग लगाता है। और जो शेष बचता है, उसे स्वयं ग्रहण कर लेता है।”

“तीसरे, गाँव में मंदिर ही एक ऐसी जगह होती है जहाँ सामाजिक कार्यों के लिए लोग इकट्ठे हो जाते हैं। यह भी उसका एक रूप है। तो बाबा, आप भी यहाँ एक मंदिर क्यों नहीं बनाते?”

बाबा कहते, “विकसित आत्माओं के लिए इस पहली सीढ़ी की आवश्यकता नहीं। उसे हलके शक्तिपात-भर की आवश्यकता होती है।”

अश्विनी ‘शक्तिपात’ का अर्थ समझता था। इसलिए अधिक प्रश्न न करके बाबा के चरण पकड़ लेता है, “मुझ पर आपकी यह कृपा कब होगी?” बाबा कुछ नहीं कहते। हलका-सा मुसकरा देते।

अश्विनी आज बाबा के पास नहीं गया। सीधा घर आ गया। वह नारी और पुरुष के संबंधों के यथार्थ में खो गया। कभी बाबा का कथन उसकी कल्पना को घेरता, तो कभी सूर्या का शील सौंदर्य। उसकी रात कटी तो सही, पर नींद सपनों से अछूती नहीं रही। ‘बिन मांगे मोती मिले’ वाली बात थी। ‘जो जाही के पास’ वाली उक्ति का सही अर्थ उसकी समझ में आने लगा। उसके मस्तिष्क पर एक नया प्रश्न भूत की तरह सवार हो गया। क्या परमात्मा की प्राप्ति के लिए वैराग्य आवश्यक है? गीता का निष्काम कर्म उसको कक्षा में प्रोफेसर बतरा ने बताया था। उसमें जीवन का व्यापार, जल में कमल के फूल की तरह रहते, करने की बात उन्होंने समझा डाली थी। वैराग्य और निष्काम कर्मयोग—इन दोनों में कैसे संगति हो सकती है। कर्म है तो संसार है। संसार है तो फिर वैराग्य कहाँ?

दिन-भर वह इसी गुत्थी में उलझा रहा। जब संसार की बात सोचता तो सूर्या उसके सम्मुख आ खड़ी होती और जब वैराग्य की बात सोचता तो उसे अपने होने की स्थिति पर भी झुंझलाहट होती। उससे रहा नहीं गया। वह इसका समाधान बाबा से चाहता था। शाम ढलते ही वह बाबा की ओर चल पड़ा।

बाबा जैसे पहले से ही उसकी प्रतीक्षा में बैठे थे। अकेले थे, जब अश्विनी ने बाबा के कक्ष में प्रवेश किया।

“आ गए? मुझे तुम्हारे आने का इंतजार था।” बाबा ने कहा।

अश्विनी समझ नहीं सका कि बाबा का अभिप्राय क्या है। क्या उन्हें उसके मन के द्वंद्व का पता है? वैसे उसे विश्वास तो है कि बाबा सबके मन की बातें जानते हैं। बाबा यह भी जानते हैं कि वह क्या कहनेवाला है। लेकिन उसे यह आभास नहीं था कि बाबा उससे उलटा प्रश्न कर लेंगे।

अश्विनी कुछ पूछे, उससे पहले ही कहने लगे, “देख, मन के बाह्य संचरण के वेग को रोक, उसे आंतरिक संचरण की ओर जिसे प्रतिसंचरण गति कहते हैं, अग्रसर करना ही वैराग्य है। वही मन, वही आत्मा, वही संसार। लेकिन मन बाहर से परिवृत्त हो भीतर साधनारत होता है। वही मिलन की लगन। वही भूख, वही प्यास। आत्मा के साथ वही सुरति की कामना। अंतर है बाह्य और भीतर का। बाह्य साध्य नहीं है। साधना है। शरीर जितना चाहता है उसकी संपूर्ति का। कर्म करते हुए भी, उसमें रमण नहीं। फलेच्छा नहीं। यही निष्काम कर्म है। संसार में रहकर भी संसार-बद्धता नहीं।”

अश्विनी ने बाबा के चरण पकड़ लिए, “बाबा, मस्तिष्क का बहुत बोझ हलका हो गया। मन में एक हलकेपन का अनुभव कर रहा हूँ। संसार के प्रति मेरी जो दृष्टि थी, उसमें बड़ा परिवर्तन आया है।”

“तुझमें आध्यात्मिक विकास की बड़ी संभावनाएँ देख रहा हूँ। तेरे अंदर जो उत्कट अभिलाषा काम कर रही है, वही तेरा मार्ग निर्धारण करेगी।” बाबा ने कहा।

बाबा से प्रतिश्रुत हो अश्विनी सीधा घर आ गया। अपने अध्ययन में खो गया। दूसरा दिन हो गया। शाम हो गई। सूर्या पुस्तक लौटाने आएगी, यह बात उसे स्मरण तक नहीं रही। नारी का जो चिंतन उसे परसो परेशान कर रहा था, बाबा के निष्काम कर्म के अभिप्राय को स्पष्ट करने पर, न जाने कहाँ खो गया। मन की थाली से कपूर की तरह उड़ गया। वह बाबा के आश्रम पर जाने की तैयारी कर रहा था कि घंटी बजी। उसने किवाड़ खोले, सूर्या सामने खड़ी थी।

“लीजिए, आपकी पुस्तक।”

“आप अकेली ही आई हैं?”

“पास ही तो है मेरा घर। अकेले आने में क्या डर था।”

“पुस्तक कैसी लगी?”

“विनोबा की विश्लेषण पद्धति से कौन प्रभावित नहीं होगा। बड़ा ज्ञान मिला। कही जाने की तैयारी थी?”

“सोच रहा था, कल नहीं गया, आज बाबा के दर्शन कर आऊँ। अब

नहीं जाऊँगा। आइए, बैठिए न।”

“आप आश्रम चल रहे हैं तो चलिए न। पुस्तकालय से और कोई नई पुस्तक लेती आऊँगी।”

“आप अकेली?”

“दार्शनिकों से कैसा डर?”

“मेरा नहीं, असामाजिकों का तो है।”

“आप जो साथ हैं। लौटते समय घर तक नहीं छोड़ आएँगे? माँ भी आपको पहचान लेगी।”

“मुझे अकेले आपके साथ चलते-लोग न जाने क्या समझेंगे।”

“आप पुरुष होकर डर रहे हैं। शायद आपने विनोबाजी का निष्काम कर्म नहीं पढ़ा।”

सूर्या ने जैसे ही निष्काम कर्मयोग की बात कही, परसों ही बाबा का दिया प्रवचन उसकी आँखों के सामने तैर गया। वह अवाक् हो गया। जिस मंत्र को समझने के लिए वह बाबा के पास गया, सूर्या उसे पुस्तक में पढ़कर समझ गई।

अश्विनी ने उत्तर में धीमे से कहा, “पढ़ा कहाँ, पुस्तक तो आप ले गई थी। अब पढ़ूँगा। अच्छा, पुस्तक रख दूँ। फिर चलते हैं। आप अंदर आइए न।”

“अंदर कोई है?”

“हाँ, हाँ, माताजी है। तुम्हें मिला दूँ।”

सूर्या को अश्विनी माँ के पास ले गया। वह रसोईघर में सब्जी काट रही थी।

“माँ, यह सूर्याजी हैं। अब यह भी महाविद्यालय में प्रवेश लेगी। यह भी दर्शन में बहुत रुचि लेती है। आप माँ से बात करें, मैं तैयार होता हूँ।”

“आप कहाँ रहती है?” माँ ने पूछा।

“पंचवटी में।”

“किसकी लड़की है?”

“पंडित विश्वेश्वरदयाल जी चतुर्वेदी की।”

“वही तो नहीं, जो पहले कलेक्टरी में थे?”

“हाँ, वही।”

“तब तो तुम हमारी ही जाति की निकली।”

“आप भी चतुर्वेदी हैं?”

“आपको पता नहीं?”

“मैं तो पहली बार आई हूँ। अश्विनीजी भी पन्द्रली बार परसों बाबा के आश्रम में पुस्तकालय में मिले थे।”

“महाविद्यालय में पढ़ती हो?”

“नहीं, अब पढ़ूँगी।”

यह वार्ताक्रम चल रहा था कि अश्विनी तैयार होकर आ गयी।

“माँ, आश्रम तक हो आता हूँ।”

“आप भी जा रही हैं?”

“हाँ, पुस्तकालय से और कोई पुस्तक लेती आऊँगी।” यह कहते हुए सूर्या अश्विनी के साथ चल दी।

आश्रम में पहुँचकर भी अश्विनी बाबा के कक्ष की ओर नहीं गया। उसके मन में विचार आ रहे थे। बाबा क्या सोचेंगे? वैराग्य की बात करने-वाला एक किशोरी के साथ अकेला घूम रहा है। मुझे धूर्त समझेंगे। मेरे प्रति उनके जो भाव हैं, वे सब सहसा बदल जाएँगे। वह मुझे घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे। मुझे वहाँ नहीं चलना चाहिए। पुस्तकालय में से पुस्तकें दिलवाकर इसे घर छोड़ देना चाहिए। वह इसी विचार में खोया पुस्तकालय की ओर मुड़ गया।

“पहले बाबा के दर्शन नहीं करोगे?” सूर्या ने पूछा।

“परसों तो मिला ही था।”

“आज क्यों नहीं? ऐसे सिद्ध पुरुषों के जितने दर्शन करो उतने अच्छे।”

“वह क्या सोचेंगे? दुर्बलता मेरे मन को खा रही है। पाँव उधर उठते काँप रहे हैं।”

“लगता है आपके मन में कहीं चोर बैठा है?”

“सूर्याजी, अभी आपने मनोविज्ञान महाविद्यालय में पढ़ा नहीं। लेकिन लगता है मनोविज्ञान पर आपका सहज अधिकार है?”

“नहीं तो। विनोबाजी की पुस्तक पढ़ने के बाद मुझे लगा कि मानसिक

कमजोरी ही गिरावट का कारण है। जीवन सहजता और निर्भीकता से जीना चाहिए। भय मनुष्य के विकास में बड़ा बाधक है।”

“सूर्याजी, आपकी बुद्धि के आगे मैं नतशिर हूँ। आप निश्चय ही विदुषी हैं। आइए, पहले बाबा ही से मिल लें।”

बाबा त्रिकालदर्शी हैं। उन्हें भविष्य प्रत्यक्ष है। चरणों में दोनों मत्था टेकें, उससे पहले ही उन्होंने कहा, “अभी से साथ हो लिए?”

बाबा के कहते ही सूर्या अश्विनी को और अश्विनी सूर्या को देखने लगे। क्या उत्तर दें, दोनों ने परस्पर भौंहेँ उठाकर प्रश्न किया। मौन ही उनका उत्तर था।

“जो बात चार साल बाद होनेवाली है, उसके लिए आज ही आशीर्वाद माँगने आ गए?” बाबा ने कहा।

सूर्या शर्म से लाल हो गई। अश्विनी लज्जा से डूब गया।

“बाबा...!” अश्विनी वाक्य पूरा करे उससे पूर्व ही बाबा ने कहा, “मैं जानता हूँ तुम दोनों को, अभी इस अभिप्राय से नहीं आए हो। जाओ, पुस्तकालय जाना था न...”

चरण स्पर्श करके वे जैसे ही मुड़े, बाबा दोनों की पीठ पर लिखा अलिखित भविष्य पढ़ रहे थे। बाबा के मुखमंडल पर एक हँसी खिल गई।

गाय की पूँछ

“यह देश का दुर्भाग्य है कि स्वाधीनता के ४४ वर्ष बीत जाने के बाद भी बड़े कस्बे तक मुख्य सड़कों से नहीं जुड़ पाए हैं। आज भी कस्बई लोग आवागमन के मामले में जीवन-मरण से जूझ रहे हैं।” यह बात रूपनगर के एक वरिष्ठ एडवोकेट श्री लक्ष्मीकांत धूपड़े ने बड़े जले-भुने मन से श्री रिखबचंद अग्रवाल से कही, जो उनके पास कुशल पूछने के लिए गए थे।

श्री धूपड़े जाने-माने अभिभाषक होने के साथ-साथ सर्वहारा मार्क्सवादी लेनिनवादी पार्टी के नेता भी हैं। मंचों से अपने लंबे शरीर के साथ बड़े ऊँचे स्वर में वर्षों से गरजते आ रहे हैं, पर उनकी बात गुप्तचर विभाग द्वारा लिपिबद्ध करने के बाद भी आज तक राज्य अथवा केंद्रीय सरकार तक नहीं पहुँची है और यदि पहुँची भी तो वह निष्प्रभाव ही सिद्ध हुई है। वैसे शब्द अमर हैं। वे शून्य में यथारूप रहते हैं।

विज्ञान ने दूरसंचार के माध्यम जैसे आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि के सफल परीक्षण से यह सिद्ध कर दिया है कि शब्द कभी मरता नहीं। उसे यंत्रों के माध्यम से सुना जा सकता है। अभी तात्कालिक शब्द ही विज्ञान की पकड़ की वस्तु बने हैं। विज्ञानवेत्ता पुरातन शब्दों को पकड़ने के प्रयोगों में लगे हैं। समाज समुत्सुक है उसे सुनने के लिए। इतिहास अपने कथन की पुष्टि इसी से कराने को व्यग्र है। आप्त ग्रंथ अपनी आर्पता इसी से प्रमाणित कराना चाहते हैं। वह दिन एक महान् दिन होगा, जब सृष्टि के प्रथम व्यक्ति की वाणी विज्ञान आबद्ध कर लेगा। श्री धूपड़े के श्रीमुख से निकले शब्दों को तब भावी पीढ़ी सुनेगी और निश्चय ही अपने पूर्वजों को सराहेगी। वे कितने जोशीले थे और कितने उग्र।

श्री धूपड़े ने कुछ दिन पूर्व ही दूसरा विवाह किया है। विवाह मनुष्य की शारीरिक आवश्यकता है या सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, यह एक

अच्छा-खासा विवाद का विषय हो सकता है। श्री धूपड़े ने दूसरा विवाह अपनी दिवंगत पत्नी के चार बच्चों की शुश्रूषा के भाव से किया है, ऐसा वह प्रारंभ में ही कहते रहे हैं। लेकिन उनकी दूसरी पत्नी ने एक नही दो-दो पुत्र जन दिए तो उनके पूर्व कथन की सत्यता कसौटी पर खरी नहीं उतरी। परिवार-नियोजन, जिसे आजकल परिवार-कल्याण कहने लगे हैं, की सारी उद्घोषणाओं के बावजूद श्री धूपड़े ने जनसंख्या की भयावहता घटाने के स्थान पर बढ़ाने का जो अनुष्ठान किया, वह उनके किन प्रगतिशील विचारों का परिचायक है, यह नहीं कहा जा सकता।

लगता है, ममत्व बड़ा प्रबल भाव है। स्त्री में माँ बनने की कामना निसर्ग प्रदत्त है। उसे पुरुष नहीं रोक सकता। गाँव में और कभी-कभी शहरों में दुर्भाग्य से ऐसी अनेक महिलाएँ देखने को मिल जाती हैं जो अपने पागलपन में नग्नता और आवरण के बीच के भेद से अजानी होकर जीती हैं। वे पुरुष की वहशी शारीरिक भूख का शिकार होती रही हैं। यह एक अलग बात है कि वे मातृत्व के गुण से अलकृत होते ही, न जाने कैसे गोदी के शिशु की सुरक्षा में लग जाती हैं। कभी-कभी यह सहज ममत्व उस पागलपन को अजगर की भाँति निगल जाता है। उसका खंडहर-सा सुनसान शून्य सहसा एक प्रकाशवान प्रत्यक्ष में बदल जाता है। जीवन का सन्नाटा तिरोहित होकर पागलपन में भी दीवाली ला देता है। असंख्य कामनाओं के दीप कहाँ से प्रज्वलित हो उठते हैं, सृष्टि ही जाने। शरीरविज्ञान या मनोविज्ञान अभी तक इस रहस्य को सही-सही नहीं कह पाया है। दर्शन ने अवश्य इस गुत्थी को मुलझाने की सार्थक चेष्टा की है; लेकिन उसकी आकाशीय सूक्ष्मता सर्वसाधारण के पल्ले नहीं पड़ती। विद्वान् समझकर उसे समझाते, शायद ग्रामजन की समझ को स्तरहीन समझ कतराते हैं। यह रहस्य रहस्य बना है। कुछ भी हो धूपड़े अपने परिवार के साथ प्रसन्न हैं।

श्री धूपड़े का पहला विवाह तहसील सुरेंद्रनगर के एक बड़े कस्बे रूप-नगर में हुआ था। उसके श्वसुर नगरसेठ के रूप में जाने जाते हैं। श्री धूपड़े का विवाह सामान्य एवं सहज भाव से हुआ था। हम फिल्मों में प्रेम का आविर्भाव, लड़की की उच्छृंखलता, माता-पिता से विद्रोह, माता-पिता की जबरन उनके चाहे वर से विवाह की हठ, कभी विवाह हो जाना और कभी

नहीं, लड़की का घर से भाग जाना, लड़के का नहीं भागना, किंतु शादी नहीं करना, डकैतों, गुंडों के हाथों में लड़की का फँसना, तस्करों के द्वारा वेष्ट्यालयों में जबरन नृत्य करवाना, देह बेचने के लिए विवश करना, लड़की का देह न बेचकर खिड़की से कूद नीचे आ जाना तथा भटकना, भटकते हुए टकरा जाना और अस्पताल में होश आना, वही प्रेमी लड़के का अचानक मिलना, लड़के द्वारा सेवा और ठीक होकर घर और अंत में विवाह-बंधन में बंधना देखते हैं। श्री धूपड़े को इस सबसे नहीं गुजरना पड़ा।

तात्पर्य यह है कि श्री धूपड़े का विवाह फिल्मी स्टाइल से नहीं हुआ था। शायद फिल्मी स्टाइल से विवाह आज भी ६० प्रतिशत लड़के-लड़कियों के नहीं होते। सिनेमावालों का १० प्रतिशत से कितना प्रेम होता है कि उसे ६० प्रतिशत मानकर समाज और विश्व के सम्मुख भारतीय विवाह का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं जो सचमुच में अभारतीय है। भारतीयता ने ऐसे विवाहों को कभी सम्मान नहीं दिया।

आठ प्रकार के जो विवाह भारतीय समाज-जीवन ने स्वीकार किए हैं, उनमें विवाह का यह गधर्व प्रकार कभी प्रशंसनीय नहीं हुआ। श्री धूपड़े ने जिस पद्धति से विवाह किया, वास्तव में वही विधि आज की भारतीय विधि है। लड़के-लड़की का परस्पर देख लेने अथवा कुछ वार्ता द्वारा विचार जान लेने से अधिक मिलना-जुलना नहीं। विवाह के बाद ही मिलन, प्रणय प्रसंग में बदलेगा, यही शालीन संस्कृतिनिष्ठ भारतीय विवाह-दर्शन है।

विवाह के बाद श्री धूपड़े के एक के बाद एक ३-३ वर्ष के अंतराल में ४ पुत्र हुए। लेकिन गृहिणी असाध्य रोग से पीड़ित हो गई। श्री धूपड़े ने चिकित्सा में लगभग ५०,००० रुपए व्यय भी किए, किंतु सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। १५ वर्ष का साथ पल-भर में छूट गया। पंछी उड़ गया। श्री धूपड़े को अकेला छोड़कर।

सचमुच में इतने अधिक निकट रहने के बाद भरी जवानी में वियोग का सर्प आ डसे तो वह विष प्राणलेवा ही होता है। श्री धूपड़े उद्विग्न रहे। हाँ, बच्चों के भविष्य की चिंता ने उन्हें सर्प-विष से बचा लिया। उन्होंने दूसरा विवाह न करने का संकल्प ले लिया और लग गए बच्चों की सेवा में। समय निकालकर वकालत भी लगातार करते रहे। न करते तो काम

भी कैसे चलता। वकालत एक ऐसा ईर्ष्यालु धंधा है जो कभी दूसरे धंधे को बर्दाश्त नहीं करता। यह उस स्त्री की तरह है जो सदा सौत से डाह रखे जीती है। बच्चों की सेवा भी उसे नहीं भाई।

वकील साहब के सामने आ गया पहाड़-सा संकट। कभी बच्चों की रुग्णता तो कभी शाला की माँग। कभी मुवक्किलों की भीड़ तो कभी सामाजिक-राजनैतिक प्रश्नों की बौछार। परिवार के पालन, बच्चों की शुश्रूषा और अभिभाषकी के बीच मानसिक विवाद बढ़ने लगा।

कोई बच्चों को नाना-नानी के यहाँ भेज देने की, तो कोई छात्रावास में रखने की बात कहने लगा। श्री धूपड़े दोनो ही स्थितियों को सही नहीं मानते थे। जिन बच्चों को प्यार से पाला-पोसा है, बड़ा किया है उन्हें दूर भेज दें ! नाना-नानी सही हों, पर है तो दूसरे ही। जो प्यार अपने बच्चों से होता है वह लड़की के लड़को से नहीं हो पाता है। चाहकर भी मन पक्षपात कर बैठता है। यह मन का स्वभाव है, पुरुष की दुर्बलता है। जरा-सी दूरी पर अपने-पराए का भाव जग जाता है। फिर छात्रावास के योग्य बच्चे हैं कहाँ। इतने छोटे बच्चों को कौन रखेगा। अततः श्री धूपड़े ने एक दिन सारे 'वकार' के बाद दूसरे विवाह का मानस बना ही लिया।

हिंदू विवाह-पद्धति में ऐसी परिस्थितियों में एक आयु विशेष तक दूसरा विवाह करने का निषेध नहीं है। महिलाओं के लिए सठियाई दृष्टि अवश्य प्रचलित है। दार्शनिक दृष्टि ने तो पुरुष और स्त्री के विवाह-दर्शन में कोई अंतर नहीं किया है।

श्री धूपड़े सर्वहारा मार्क्सवादी होने के बाद भी हिंदू जीवन-पद्धति को छोड़ देने के पक्षपाती नहीं थे। वह सर्वहारा की क्रांति तो चाहते थे पर अपनी संस्कृति और परंपराओं को तिलांजलि देकर नहीं। वह अंतरराष्ट्रीय इतने ही थे कि अपनी संस्कृति व आस्थाओं को आँच नहीं आए। वह 'दुनिया के मजदूर एक हो' का उद्घोष कर भी अपनी सार्वदेशिक राष्ट्रीयता से छुटकारा नहीं ले सके थे। देश-प्रेम का भाव उनके हृदय के किसी-न-किसी कोने में गहराई से बैठा था, जो उन्हें भटकने नहीं देता था। परिणाम यही होता था कि उन्हें न तो जनवादी पूरी तरह अपना मानते थे न राष्ट्रवादी। इसी कारण चुनाव में सर्वहारा के मत उन्हें मिल गए, तो मिल गए, अन्यथा

वह अकेले ही रह जाते थे।

श्री धूपड़े ने दूसरा विवाह बड़ी सादगी से किया। शिक्षित वधू मिली थी। शिक्षित वधू के साथ-साथ संभ्रांतशालीन परिवार भी। उसने न केवल बच्चों को पाला, पति को इतना आश्वस्त कर दिया कि यदि उसके भी संतान हो गई, तो भी वह इन चारों बच्चों को अपने बच्चों से अधिक मानकर पालेगी-पोसेगी। दूसरे विवाह की दोनों संतानें इसी विश्वास का परिणाम थी। श्री धूपड़े का सादगी से विवाह करना उनकी अपनी तथा विचारों की प्रौढ़ता का ही परिचय था। साथ ही जिन परिस्थितियों में उन्होंने दूसरा विवाह करने का विचार बनाया वह कोई उत्साहवर्धक भी नहीं था। थोड़ी लोक-लाज भी थी, कुछ मित्र भी गए, कुछ आवश्यक परिवारजन। विवाह हो गया।

दूसरा विवाह हो जाने के बाद भी श्री धूपड़े ने अपने पुराने श्वसुराल से प्रेम और श्रद्धा का वह पुराना गहरा नाता-रिश्ता नहीं तोड़ा। वह जब भी अवसर मिलता, वहाँ जाना नहीं भूलते। १-२ दिन ठहरते। सास-श्वसुर से खूब बतियाते। श्री धूपड़े स्वभाव से ही वाचाल थे। वैसे यह नहीं कि वह कोरी डींग ही हाँकते हों। उनमें आध्यात्मिक गहराई नहीं हो ऐसी बात भी नहीं थी। उन्हें रामचरितमानस कंठस्थ थी। गीता के श्लोको का अनुवाद बता सकते थे। देश-विदेश की राजनीति में चल रहा यह घटना-क्रम या वह घटना-क्रम भविष्य में क्या स्वरूप ले लेगा, श्री धूपड़े इसका सही-सही आकलन करने की क्षमतावाले थे। इसलिए वह चर्चा में सामान्य जन से एक कदम आगे चलने के कारण लोगों को अप्रिय लगने लगते थे। जो वह नहीं थे, उन्हें लोग वह मान बैठते थे। वह इसकी क्षति भी भुगतते रहते थे।

अभी, घर पर काम होते हुए भी, श्री धूपड़े पुराने श्वसुराल के प्रेम के कारण ही, अपने छोटे साले अनिरुद्ध के विवाह में गए थे। बड़े बच्चों को भी साथ ले गए थे। बरसात का मौसम था। नदी-नाले उफन रहे थे, परंतु गए। जिस दिन गए थे उस दिन बरसात नहीं हो रही थी। पानी उतर गया था। आराम से पहुँच गए थे। कोई नाला भी उनके रास्ते में नहीं आता था। उन्हें श्वसुराल जाने में नहीं, बरसात में पंडितों द्वारा बिना सोचे-विचारे मुहूर्त निकाल देने से बड़ी चिढ़ थी। वह मार्क्सवादी या वैज्ञानिक द्वंद्वात्मक

भौतिकवाद के पक्षधर होते हुए भी मुहूर्त निकलेवाने में बुराई नहीं देखते थे। वह भारतीय ज्योतिष को विकसित विज्ञान के रूप में ही देखते थे। परंतु असुविधाजनक मुहूर्तों पर उन्हें रोष आ ही जाता था। जब दूर जाना हो, रास्ता ठीक नहीं हो, बीच में नदियाँ पड़ती हों, तब बरसात में मुहूर्त होते हुए भी मुहूर्त नहीं निकालना चाहिए। ज्योतिषी को बरात कहाँ जाने-वाली है, मार्ग कैसा है इसपर भी विचार करना चाहिए। बरसात का मुहूर्त किसे सही रहेगा और किसे नहीं, यह मुहूर्तवाले पंचांग में कहाँ लिखा होता है। यह बात तो ज्योतिषी को स्वविवेक से सोचनी चाहिए। मुहूर्त बरसात के मौसम में शहर के शहर में ठीक हो सकता है, परंतु मार्गविहीन गाँवों के लिए नहीं। पंचांग गलत नहीं है, गलत है ज्योतिषियों का परिवेशगत ज्ञान के अभाव में मुहूर्त का निर्धारण कर देना।

यही श्री धूपड़े के श्वसुर साहब के साथ हुआ। बरात रूपनगर से कंचनपुर तक ही जानी थी। दोनों कस्बों के बीच केवल सात मील का ही अंतर था, परंतु एक बड़ा ताल जब अपनी जवानी पर आ जाता था, तो अच्छे-अच्छों को बहा ले जाता था। रूपनगर के आगे पाव मील की दूरी पर वह ताल था। उसके पार कंचनपुर पहुँचने के लिए श्वसुरालवालो ने बस खड़ी कर रखी थी। बरसाती नाले को पार करने की परंपरागत विधि सब गाँववाले जानते थे। उसका भी प्रबध था ही। ऐसी चिंतावानी बात नहीं थी। लेकिन दुर्भाग्य कब अकेला आता है। जिस दिन बरात जानेवाली थी, उस दिन पानी के बरसने ने भी अपनी मर्यादा तोड़ दी। इतना पानी बरसा, इतना पानी बरसा कि सारे ताल-नाल एक हो गए। रूपनगर से पाव मील दूरवाला नाला तो मानो समुद्र हो गया।

बरात ने पानी रुकने की प्रतीक्षा की। दोपहर ढल गई। गोधूली के फेरे थे। घर से यदि अब भी नहीं चलते तो गोधूली का सावा नहीं हो पाएगा। सारे लोग चिंतित। सबने हिम्मत की। छतरियाँ, धूमियाँ, प्लास्टिक कवर सिरों पर तन गए। पहले प्रमुख लोग, जिनका जाना आवश्यक था, चल पड़े। अधिवक्ता श्री धूपड़े दूल्हे के जीजा थे। वह सबसे आगे हो गए, छतरी ताने। कारवाँ चल पड़ा।

नाले पर पहुँचे। ट्रकों की ट्र्यूबें दोनों किनारों से डोरियों में जुड़ी पड़ी

थी। द्यूबों पर खाट और खाट पर एक-एक सवारी बिठाई गई। श्री धूपड़े पहले व्यक्ति थे जो हिम्मत करके सवार हो गए। श्वसुरजी ने रामखोतली उन्हें ही दे रखी थी। और भी सवारियाँ उतरीं। तब तक दिन ढलने लगा। गोधूली के फेरों के चक्कर में आपा-धापी मच गई। एक-एक के बजाय दो-दो सवारियाँ, एक छोटी, एक बड़ी बैठने लगी। लोगों को जब किसी बात की चिंता नहीं होती तब विपरीत स्थितियों में भी काम हो जाता है जो कभी पूरे मन से करने पर भी नहीं होता। लेकिन जब कोई विशिष्टता उसमें होती है और सावधानी की विशेष आवश्यकता होती है तब कुछ-न-कुछ दुर्घटना अवश्य घटित होती है। एक तो सावे के समय की निकटता, दूसरे दूल्हे को ताल पार करवाना। आपा-धापी मच गई। रस्सी के छोरों को ज़ोरों से पकड़ा गया। दूल्हा और दूल्हे का भानजा अर्थात् श्री धूपड़े जी का बड़ा पुत्र दोनों उसमें बैठ गए। द्यूब, द्यूब पर खाट और खाट पर दूल्हा और भानजा। इस छोर से ढील और उस छोर से खींच बढ़ती गई। जैसे ही खाट बीच में पहुँची, पानी की एक बड़ी हिलोर नाले में आई और उसने खाट उलट दी। हाय-तौबा मच गई। कोई हिम्मत नहीं कर रहा था कि धार में कूदे। परली पार श्री धूपड़े खड़े थे। दूल्हे के साथ उन्हीं का बच्चा था। उन्होंने आव देखा न ताव कूद पड़े ताल में।

हम जिसे बचाना चाहते हैं, परमात्मा उसे पहले ही बचा लेता है। हमारी भावनाएँ शायद प्रकृति पहले ही सुन लेती है। हमारी चिंता परमात्मा के निकट शीघ्र पहुँचती है। खाट उलटी तो दूल्हे जी नीचे, लेकिन भानजा द्यूब पर आ गया। खाट इस पकड़ में आ गई। उसने डूबते दूल्हे का हाथ पकड़ लिया। दूल्हा और भानजा तो किसी तरह ताल के पार हो गए, लेकिन श्री धूपड़े जी स्वयं धार की भँवर में फँस गए और लगे बहने। दोनों किनारों पर अफरा-तफरी मच गई। बचाओ-बचाओ की आवाजें गूँजने लगी। कोई कूदने का साहस नहीं कर रहा था। श्री धूपड़े ने बहुत हाथ मारे लेकिन बहाव इतना था कि श्री धूपड़े की शक्ति उसे नहीं जीत सकी। सारे प्रयत्न हताशा में बदल गए। श्री धूपड़े डूबने से लगे। किनारे की हाय-तौबा और बढ़ गई। श्री धूपड़े ने जैसा साहस बचाने का किया था वैसा साहस कोई नहीं कर पाया। लगने लगा अब श्री धूपड़े किनारे नहीं लग

सकेगे। उन्हें इस स्थिति में देखकर निकट संबंधियों की आँखें भर आई।

लेकिन डूबनेवाले से बचानेवाले के हाथ लंबे होते हैं। श्री धूपड़े एक लंबी आयु लेकर आए थे। उनकी दूसरी पत्नी की माँग का सिद्ध उजड़ने-वाला नहीं था। उसके हाथों की चूड़ियाँ नहीं टूटनी थी। बच्चों के सिर से बाप का साया नहीं उठनेवाला था। तभी एक गाय ताल पार करने के लिए उतरी और तैरती हुई श्री धूपड़े के निकट से निकली। डूबते को तिनके का सहारा चाहिए। वही हुआ। हाँफते-हाँफते, मुँह से पानी फेंकते श्री धूपड़े ने जैसे-तैसे गाय की जल में उठी पूँछ को पकड़ लिया। उन्होंने एक संतोष की साँस ली। गाय उन्हें अवश्य पार पहुँचा देगी, यह विश्वास उनके मन में जम गया। जब विश्वास सुदृढ़ हो जाता है तो साहस स्वयं बढ़ जाता है। उनकी पथराई आँखें चमक उठी। डूब रहा सिर पानी के ऊपर आ गया। दोनों किनारे के लोगो की हाय हर्ष और उल्लास में बदल गई। “श्री धूपड़े जी, पूँछ मत छोड़ना। इधर आइए, इधर आइए। यहाँ से किनारा पकड़ना है। गाय चढ़नेवाली है। आप पूँछ मत छोड़ना, नहीं तो किनारे पर फिसल जाओगे।” किनारे खड़े लोग उच्चारने लगे।

गाय की पूँछ एक वरदान सिद्ध हुई। मानो उन्होंने स्वर्ग की वेंतरणी पार कर ली हो। भारतीय जीवन का यह विश्वास कि गाय की पूँछ पकड़कर पार होती आत्मा स्वर्ग में पदार्पण करती है, वहाँ सच में चरितार्थ हो गई। वहाँ खड़े लोग कहने लगे, “यह गाय ईश्वर ने भेजी थी। कोई दैवी शक्ति है, वरना पशु भी इतने तेज पानी में उतरते घबराते है।”

कुछ कहने लगे, “श्री धूपड़े साहब की आयु लंबी है।”

कुछ कहने लगे, “भाग्यशाली है धूपड़े साहब।”

एक बुद्धिजीवी व्यंग्य में बोले, “प्रेमचंद के होरी को गोदान के लिए गाय मिली हो या नहीं मिली हो, श्री धूपड़े साहब को गाय की पूँछ अवश्य मिल गई।”

सब हँस पड़े। श्री धूपड़े लोगों के कथनों को ध्यान से सुन रहे थे, लेकिन कोई नहीं जान रहा था कि उनके हृदय में क्रोध, विषाद और विद्रोह की ज्वाला धधक रही थी। वह इस अप्रत्याशित घटना पर विषाद कर रहे थे। यदि कुछ हो जाता तो छोटे बच्चों और युवा पत्नी का क्या होता ?

उन्हें सरकार पर भी क्रोध आ रहा था कि स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी कस्बों को सड़कों से नहीं जोड़ा। उनका सर्वहारा मार्क्सवादी लेनिनवादी मन आग फूँकने के लिए विद्रोही बन धधक रहा था।

बस का हॉर्न बजना प्रारंभ हो गया था। श्री धूपड़े क्रोध के आवेग को थूक की तरह गटक गए और बस में जा बैठे। बस घर्-घर् कर चल दी। गाय और गाय की पूँछ की बस में चर्चा चल पड़ी, लेकिन कोई श्री धूपड़े के भीतर जल रही आग की बात नहीं कर रहा था। श्री धूपड़े समय की गंभीरता को देखकर मौन बने बैठे रहे। कभी सोचते, यदि गाय की पूँछ पकड़ में नहीं आती तो ? परिस्थिति की विषमता सोच घर्-घर् फिर भीतर घर्नि लगी। विषाद की हवा से जैसे ही कभी प्रमुक्त आस्थावादी मन जागता, उन्हें लगने लगता गाय गाय नहीं, देवता है। लेकिन यह विचार अधिक नहीं टिकता और उनका मार्क्सवादी लेनिनवादी भौतिक मन गाय की पूँछ के धार्मिक पक्ष के विरुद्ध विद्रोह कर उठता और कह उठता, यह एक संयोग की बात थी। गाय आ गई और मैं बच गया, अन्यथा''''।

गृहलक्ष्मी

वृंदावन बिहारी लाल नगर के माने हुए बुद्धिजीवी हैं। वह काफी बड़ी प्रतिष्ठा के धनी हैं। बुद्धिजीवी इस माने में नहीं है कि वह विद्वान् है, या बुद्धि के आधार पर अपनी जीविका चलाते हैं, बल्कि उन्होंने अपनी नवोन्मेषिनी प्रतिभा, सर्वव्यापिनी कल्पना तथा तत्त्वज्ञानी प्रज्ञा के आधार पर कई-कई पुस्तकें लिखी हैं तथा बड़ा नाम कमाया है। पुरस्कार मिले हैं। पुस्तकों ने उन्हें नगर का एक सम्मानित व्यक्ति बना दिया है। मित्रों, हितैषियों, साहित्यिक तथा सजातीय संस्थाओं ने सम्मान-समारोह आयोजित कर दिए हैं।

लेकिन उन्हें इस बात की बड़ी कुढ़न रहती है कि लोग-बाग उद्घाटन, विमोचन, अनावरण आदि के छोटे-मोटे कार्यक्रमों में भी उन जैसे विद्वान् को आमंत्रित न करके, प्रशासनिक अधिकारियों अथवा निर्वाचित प्रतिनिधियों को आमंत्रित करते हैं। वह सोचते हैं समाज को दे सकनेवाला ज्ञान उनके पास है। ये ऐसे ही अवसर हैं जब उस ज्ञान को समाज तक पहुँचाया जा सकता है। अपना ज्ञान पुस्तकों में अवश्य निरूपित कर रहे हैं, लेकिन कितने लोग हैं जो गाँठ के पैसे खर्च करके पुस्तकें खरीदते हैं, पढ़ते हैं। उनका ज्ञान समाज के सामान्य जन तक नहीं पहुँच पा रहा है। जिनके पास देने को कुछ नहीं है, उन्हें सत्ता के प्रभाववश बुलाया जाता है और जो समाज को कुछ दे सकते हैं, वे उन समारोहों में मात्र श्रोता के रूप में आमंत्रित किए जाते हैं। इसलिए श्री वृंदावन बिहारी लाल ऐसे समारोहों में कम आते-जाते हैं। अपने ज्ञान को वक्तृता की शान पर चढ़ाने के अवसरों को कुठित हुआ देखकर वह बहुत कुठित हैं।

वह अपनी किशोरावस्था से ही बुद्धिजीवी है। यही कोई सोलह के होंगे तभी उन्होंने अपनी शाला की वाद-विवाद प्रतियोगिता में लच्छेदार धारा-

प्रवाह भाषण देकर सबको चमत्कृत कर दिया था। लिखने तो वह उससे भी पहले से लगे थे। वृद्ध श्रोताजन उनमें बड़ी संभावनाएँ ढूँढ़ने लगे थे। गणित के एक वरिष्ठ अध्यापक ने उनके भाषण को सुनकर अपनी अंतिम टिप्पणी में उसी समय कहा था, “इस लड़के में बड़ी संभावनाएँ देखता हूँ। यदि इसने प्रयत्न किया तो यह एक दिन बड़ा वक्ता बन सकता है।” ‘होनहार बिरवान के होत चीकने पात’ वाली उक्ति कहकर उन्होंने अपनी टिप्पणी पूरी की थी।

लेकिन विधाता की रोकड़ तो अपढ़ी है। उसके खाते में नाम तो सभी के लिखे होते हैं; लेकिन किस-किसकी कितनी पूँजी जमा की ओर लिखी है और कितनी नामे की ओर, यह किसी को पता नहीं होता है। होनहार बिरवान की टहनी में निरक्षरता की कलम लगा दी परिस्थितियाँ ने। अब वह सोचते हैं, विधाता जो कुछ करता है ठीक ही करता है। यदि निरक्षर नहीं आई होती तो घर का काम-काज कब करती। वह भी उनकी तरह लिखती-पढ़ती। उन्हें दो जून श्रद्धा से रोटी नहीं मिलती। साथ-साथ घूमते, लिखने का तनिक समय नहीं मिलता। वह संतुष्ट थे। प्रारंभ में अवश्य उन्हें सकोच का अनुभव हुआ, लेकिन गृहलक्ष्मी ने पूरी निष्ठा से घर सँभाल रखा है, महासती सावित्री है, उनकी सुख-सुविधा का पल-पल ध्यान रखती है, धर्म-कर्म से निरतर जुड़ी रहती है। निरक्षर हुई तो क्या हुई, व्यावहारिक ज्ञान में उनके भी कान काटती है। पुण्य की जड़ पाताल में है, इसे समझती है।

वृंदावन बिहारी लाल को उस समय बड़ा आश्चर्य होता है, जब १०-१५ दिन बीते नहीं कि पड़ोस के छोटे-मोटे ब्राह्मणों को भोजन पर बैठे देखते हैं। हर पूर्णिमा-एकादशी को सीधा लेने मन्दिर के पुजारी को आया देखते हैं। भोजन का स्तर देखकर उन्हें लज्जा का अनुभव तो बहुत होता है, लेकिन ‘मौन हुई रहिए देख दिनन को फेर’ इस उक्ति को मन-ही-मन बोल चुपचाप उस कर्मकांड को देखते हैं। ब्रह्मभोजन तो उनके परामर्श का काम है न उनके आयोजन की कोई चीज। फिर इसे बाहरवाला देख भी कौन रहा है। शिष्टाचारवश वह अवश्य कुछ क्षण के लिए ब्रह्मभोजन करते उन ब्राह्मणों के पास अपनी मेज से उठकर आ बैठते हैं। एक-दो मोठी बातें कर उन्हें प्रसन्न कर देते हैं। अपने हाथों से डालडें में निकाली हुई गरम-गरम पूड़ियाँ

परोस देते हैं। बाजार से खरीदकर मँगाई हुई नुक्ती और सेव पर वह तभी हाथ लगाते हैं, जब गृहलक्ष्मी का संकेत पा लेते हैं।

उन्हें यह संतोष रहता है कि भोजन करनेवाला उनका आमंत्रित व्यक्ति नहीं है, न ऊँचे स्तर का है, जो उनके कंजूस स्वभाव पर व्यंग्य करे या चोट करे, या भविष्य में कभी न आने का मन-ही-मन संकल्प करे। आलू की बिना तरीवाली सब्जी या दही के पानी का पतला रायता या कद्दू की बनी सब्जी परोसते वह संकोच का अनुभव करते, पर क्या करें, शिष्टाचार निभाना होता था। पत्नी से व्यर्थ का विवाद भी मोल नहीं लेना चाहते थे। वह उसके धार्मिक स्वभाव से सतुष्ट थे।

ऐसा नहीं कि वृंदावन बिहारी लाल स्वयं में धार्मिक न हो, लेकिन भक्त होकर भी जहाँ व्यय का प्रश्न आता वह गृहलक्ष्मी के समक्ष निर्गुण उपासना की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने लग जाते। वह बेचारी निरक्षरा उनके तत्त्व-ज्ञान की ओर गूढ़ दृष्टि से देखती तो सही, लेकिन उसके सगुण मन पर उनकी निराकारता प्रभाव नहीं डालती। वह अपने यत्किंच प्रदान पर संतुष्ट हैं और यह समझती है कि स्वर्ग की सीढ़ी वही नहीं चढ़ रही है, अपने साथ पं० वृंदावन बिहारी लाल को भी चढ़ा ले जाएगी। इसीलिए ब्राह्मणों को भोजन के बाद जब भी दक्षिणा देनी होती है वह स्वयं न देकर पंडित वृंदावन बिहारी लाल से दिलवाती है। पंडित लाल दक्षिणा ठीक-ठाक देख, देते नहीं हिचकते। वह पूरे सम्मान के साथ रोली का तिलक लगाते, अक्षत जड़ते तथा निकल का चमकता रुपया या पाँच का नोट जो भी गृहलक्ष्मी देती, उसे थमाते। वह ब्राह्मण से अधिक गृहलक्ष्मी के संतोष का विचार कर ही ऐसा करते थे।

गरमी के दिन थे। सब्जीमंडी में खरबूजे बिक रहे थे। वे बड़े महँगे, दो रुपए किलो। उन्हें बड़ा आश्चर्य होता जब से सिंधी आए हैं और सब्जीमंडी के बाजार पर अपना एकछत्र राज्य जमाया है, हर चीज तोल में मिलने लगी है। उनके जमाने में अर्थात् उनके बचपन में, क्योंकि जमाना तो अभी भी उनका ही है, मोल से चीजें मिला करती थी। उन्हें सिंधियों की व्यापार-कुशलता तो पसंद थी पर व्यापार में उनकी आपराधिक हरकतों से उन्हें वेहद चिढ़ थी। सिंध से उजड़कर आए हैं इस कारण उनके प्रति उनके मन

में दया और करुणा का भाव तो है, पर कम तोलना, खराब चीजों को अच्छी करके बेच देना, भाव बहुत ऊँचे रखना उन्हें अखरता है। जब से सिधी आए है, भाव आसमान छू रहे हैं। माल में मिलावट आ रही है। असली-नकली का भेद नहीं जान सकते। गरीबों, निरक्षरों की आँख में धूल झोंकना उनके बाएँ हाथ का काम है।

पं० वृंदावन बिहारी लाल उनमें जो अच्छाई देखते थे वह यह थी कि सिधी होता बड़ा परिश्रमी है। कभी भीख नहीं माँगता। उसका छोटे-से-छोटा लड़का मुँह पर रेखवाला हो या न हो, दुकान की सारी चतुराई से भली-भाँति परिचित हो जाता है। कुशल विक्रेता बनने की ओर अग्रसर रहता है।

पं० वृंदावन बिहारी लाल पत्नी को अप्रसन्न नहीं करना चाहते। वह अपने लिखने-पढ़ने के लिए घर में मानसिक शांति पसंद करते हैं। वह बड़े व्यावहारिक सोचवाले व्यक्ति है। अपनी आर्थिक स्थिति और मितव्ययता के सिद्धांत को भी भली-भाँति समझते हैं। जब गृहलक्ष्मी से कहते, “सब्जी ठेलेवालों से यही ले लिया करो।” (सब्जीमंडी जाने में हमारे सम्मान को ठेस पहुँचती है। कहना चाहकर भी वह इस सत्य को कह नहीं पाते) तब गृहलक्ष्मी कहती, “सारे दिन मेज पर आँखें गड़ाए बैठे रहते हो, अच्छा है थोड़ा बाहर घूम आओ। याद नहीं यह लँगड़ा सिधी ठेलेवाला किस भाव सब्जी बेचता है। ये बैंगलेवाली औरते शान में मुँहमाँगा पैसा दे देती है, इनके घरवाले झूठी शान में अकड़े रहते हैं। लेते तो ले लेती हैं, जब पैसा देती हैं तो आँखें खुल जाती हैं। बड़ी कसमसाती है, पर क्या करे। पतिदेवों को सब्जी लाने में शर्म आती है और इनको सब्जीमंडी में थैला लेकर जाते।”

पं० वृंदावन बिहारी लाल के साग से भरा थैला लाकर रखते ही पत्नी एक-एक सब्जी का भाव पूछकर कहती, “कहिए, कितनी बचत हुई। वह सिधी यहाँ बैंगन तीन रुपए किलो बोल रहा था। कद्दू दो रुपए किलो दे रहा था। हुई न ३ रुपए की बचत। लोग जाना ही नहीं चाहते। काम से कितना कतराते हैं। झूठी शान में अकड़े रहते हैं। काम से कोई घिसता थोड़े ही है। अब ले आए तो छोटे बाप के तो नहो हो गए।”

पं० लाल सोचते, ‘वह कितने छोटे बाप के हुए है, इसे कोई क्या

जाने ।' पर पत्नी की प्रसन्नता और दो पैसे की बचत के भाव से अपनी सारी प्रतिष्ठा को खूँटी पर लटकाकर पं० लाल सब्जीमंडी चले जाते थे और सस्ते भावों पर उठती सब्जीमंडी की चीजे खरीद लाया करते थे ।

एक दिन वह बड़ा-सा खरबूजा खरीद लाए । गर्मियों की छुट्टियों में पं० लाल की लड़कियाँ अपने लड़के-लड़कियों को लेकर आ धमकती । बच्चों की परीक्षाएँ कब खत्म हो रही है, उसकी सूचना महीने-भर पहले से देने लग जाती । लेने कोई नहीं जा पाता तो स्वयं चली आती । पं० लाल उनके आने को तो बुरा नहीं मानते थे लेकिन बच्चों के कोलाहल, चिल्लाने, खेल-कूद से उनके लिखने-पढ़ने में जब बाधा उत्पन्न होती तो मन-ही-मन बड़े झुंझलाते । लेकिन ज्ञानवान थे न । समझते थे जहाँ बच्चे होते हैं, वहाँ हल्ला-गुल्ला होता ही है । फिर बच्चियों को बुरा लगे ऐसा कोई काम करना नहीं चाहते थे । बच्चियाँ उन्हें बहुत प्यारी थी ।

पं० वृंदावन बिहारी लाल उन्ही दिनों बृहस्पति चेताने के लिए हर बृहस्पतिवार को केले का पूजन किया करते थे । केले का पूजन भी ऐसा-वैसा नहीं । पीला चंदन, पीला वस्त्र, पीला ही भोग चढ़ाते । गृहलक्ष्मी ने ही इसे चालू करवाया था ।

बहुत समय पहले पं० वृंदावन बिहारी लाल को पंजाब से आए कुछ साधु मिले थे । देखते ही बोल उठे, “ये बड़े भाग्यशाली व्यक्ति है । बड़ी जल्दी इनकी तरक्की होनेवाली है । किसी ऊँचे पद पर जानेवाले है ।”

अपने सुखमय समय की घोषणा किसी भी कोण से आती हो, किसे आनदित नहीं करती ? जहाँ भारी शरीर, पीत वस्त्रधारी, पुस्तकें लिए बगाली संत बैठे थे, वही पहले से ही अपना-अपना भाग्य पूछनेवाले जमे थे । उनमें पं० लाल के परिचित भी थे । सच तो यह है कि पं० लाल उन्हें देखकर ही उधर गए थे । पं० लाल को स्वयं ज्योतिष में काफी कुशलता हासिल है । उन्हें रुचि ही नहीं, विश्वास भी है । इसे वह कोई जादू-टोना नहीं, कोई झूठ-ढकोसला नहीं, एक निःसर्गसिद्ध विज्ञान मानते हैं, जो ग्रहों और राशियों से संचालित होता है । वह यह भी मानते हैं कि ऊपर के ग्रह-नक्षत्र हमारे को संचालित करते हैं । भूत, भविष्य और वर्तमान के नियम के मूलाधार है । जो इस विज्ञान को जानता है वह त्रिकालज्ञ है ।

एक सुंदर युवा बलिष्ठ संत ने, जिसकी आँखों की चमक बताती थी कि वह कोई सिद्ध योगी है या योग की सिद्धता के लिए अग्रसर है, कहा, “आप बृहस्पतिवार को केले का पूजन किया कीजिए। पीला वस्त्र, पीला प्रसाद चढ़ा दिया कीजिए। देखिए कुछ ही दिनों में इसका चमत्कार आपको मालूम पड़ जाएगा।”

उसकी बात ने पं० वृंदावन बिहारी लाल के मन पर प्रभाव किया। केले के पूजन की व्यवस्था गृहलक्ष्मी ही कर सकती थी। पंडितजी ने घर आकर कहा, तो वह नट गई, “ये साधु-संत तो ऐसे ही कहा करते हैं। नहीं मानते तो कर लिया करें। मैं तो किसी धर्म के काम में मना नहीं करती।”

लेकिन जब गृहलक्ष्मी ही रुचि न ले तो हर बृहस्पतिवार को कौन इतनी व्यवस्था करे। न गृहलक्ष्मी ने ध्यान दिया न पंडितजी की पूजा चालू हुई।

बहुत वर्षों के बाद जब किसी ने गृहलक्ष्मी को बता दिया कि पंडितजी का यह वर्ष कड़ा है, कुछ उपाय कर लो, तो सारी बाधा दूर हो जाएगी। गृहलक्ष्मी से ज्योतिषी का इतना कहना था कि चिंता जग गई। अब तो वह चुपचाप पंडितजी की जन्म-पत्री ले जाकर दिखा आई। एक जगह संतुष्ट नहीं हुई तो वह दूसरे को दिखाई। सभी का एक-सा मंतव्य था, “ऐसी कोई बात नहीं है। जिस नक्षत्र की महादशा है वह कभी घातक नहीं हो सकता। बृहस्पति की दृष्टि थोड़ी मंद है। आप एक उपचार कर लो। सब ठीक हो जाएगा। वह नहीं करे तो उनके लिए आप स्वयं कर लें। एक ही बात है।”

केले का पूजन बृहस्पतिवार को होना था। बुधवार की रात्रि को ही गृहलक्ष्मी ने अधरों पर स्मित, आँखों में चमक तथा कपोलों पर मुसकान बिखेरते हुए पंडितजी से कहा, “आप केले के पूजन की कहा करते थे न, अब कर लो।”

“क्या किसी ज्योतिषी ने तुम्हें भी बताया है?”

“हाँ। आप नहीं पूजेंगे तो मैं तो पूजूंगी ही।”

“मैं क्यों नहीं पूजूंगा। लेकिन जब वर्षों पहले मैंने कहा था, तब से ही पूजते तो आज कितना आनंद होता।”

“पूजा समय पर ही होती है। आगे-पीछे करने में कोई लाभ नहीं

होता।”

“अब क्या कोई समय आ गया है? अब तो अपने सब आनंद हैं। मुझे अब कोई चिंता भी नहीं है।”

“नहीं, आपके लिए ही मैंने पूछा था। आपके लिए ही तो मैं कर रही हूँ।”

गृहलक्ष्मी से पंडितजी अधिक तर्क नहीं करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने संवाद को समाप्त करने के भाव से कहा, “सुबह होने दो। सब तैयार कर लेना। पूजा कर लेगे।”

पंडितानी की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। सूरज नहीं उगा, उससे पहले स्नान। पंडितजी नियमित पूजा पूरी करें, उससे पहले केले के पूजन की थाली तैयार।

“चलो लगे हाथ केले भी पूज लो।” गृहलक्ष्मी ने कहा।

पंडितजी चाहते ही थे। बाहर लॉन में केले के पौधे थे ही। चले गए। किधर मुंह करना है, कहाँ बैठकर पूजा होगी, सब गृहलक्ष्मी ने निर्धारित किया।

“मैं भी पूजा करूँगी इसलिए आप उधर बैठिए। मैं इधर बैठती हूँ।”

गृहलक्ष्मी ने जैसा आदेश दिया, वैसा ही किया। दीप जला। अगरबत्ती ने धुआँ छोड़ा। जल से केले का स्नान हुआ। पीला वस्त्र चढ़ा। हल्दी का तिलक लगा, पीले फूल चढ़े, पीले गुड़ का भोग लगा तथा पीला आम जिसे पंडितजी पहले ही ले आए थे, चढ़ाया गया। बाद में पैसे चढ़ाए गए। भारती हुई। पूजा पूरी।

पूजा का क्रम चल पड़ा। एक दिन पंडितानी पीले फल की व्यवस्था नहीं कर सकी। पंडितजी ने उसी दिन बड़ा-सा खरबूजा सब्जीमंडी से लाकर रखा था। पंडितजी इस विचार से लाए थे कि कल मेहमान भोजन करनेवाले हैं, उनके काम आ जाएगा।

सुबह जैसे ही पंडितजी पूजा के लिए फल माँगने लगे, पंडितानी ने कहा, “खरबूजा ले लें?”

पंडितजी ने तत्काल अकड़ते हुए कहा, “इतना बड़ा खरबूजा? नहीं। यह तो मेहमानों के लिए लाया हूँ।”

पंडितानी ने कहा, “ठीक है। चलो, आलू ही ले लें। ये भी पीने ही होते हैं।”

दो आलू ले लिए गए।

रास्ते में पंडितानी ने कहा, “जैसा यहाँ दोगे, वैसा ही वहाँ मिलेगा।”

पंडितजी ने कहा, “तुम भी कहाँ उलझी हो। मिलेगा या नहीं, किसने देखा है? यह सब पंडितों की अपने लिए बनाई व्यवस्था है। पुराने राजाओं का यह एक आर्थिक षड्यंत्र है। कुछ हाथों में संग्रहीत धन के वितरण का प्रचलन तरीका है। वैसे अच्छा है। इसलिए मैं भी करता हूँ।”

“इसीलिए आपको दान-पुण्य का फल नहीं मिलता। आप कभी-कभी तो पूरे नास्तिक हो जाते हो। पूजा-पाठ करते हो, सब समझते हो। आपको कभी-कभी न जाने क्या हो जाता है। नास्तिकों की-सी बातें करने लगते हो।” केले तक पहुँचें, इससे पहले ही एक लंबा भाषण पंडितानी ने दे डाला।

पंडितजी चुपचाप सुनते रहे। पंडितानी कहती रही, “ब्राह्मण का मुख अग्नि का मुख होता है। अग्निदेवता को जो अर्पण होता है, वह देवताओं तक पहुँचता है और देवता प्रसन्न होकर हमें भौतिक सुख देते हैं।” कहते-कहते केल आ गई। पूर्ववत् पूजा हुई। पंडितानी ने कहा, “आप कोई भी धर्म-कर्म करें, श्रद्धा के साथ किया करे। देवता के निमित्त किया काम निरर्थक नहीं जाता।”

पंडितजी ने बात काटते हुए कहा, “तुम्हें कैसे समझाऊँ, ये व्रत-उपवास अन्न वचाने की राजतंत्रीय व्यवस्था है। ये दान, पुण्य, सीधा, भोज कराना, भूखों को भोजन देना है। मंदिर में पुजारी व्यवस्था के लिए रखना ही है। पुजारी की व्यवस्था समाज पर कैसे डाली जाए? भगवान् को मुद्रा-दान करो, प्रसाद चढ़ाओ। खेतीवाले हो तो साग, फल-फूल चढ़ाओ। नौकरी-पेशा हो तो पैसे चढ़ाओ। इनके बिना पुजारी आपके आगमन का स्वागत नहीं करेगा। पुजारी बदले में देता क्या है आपको—तुलसी, चरणामृत, तिलक। आपका प्रसाद आपको ही, सो भी अपने लिए रखकर। पुजारी के लिए अन्न-संग्रह हो गया। तुम्हें मालूम नहीं आजकल कुछ मंदिरों की इतनी प्रतिष्ठा हो गई है कि उनके चढ़ावों से विश्वविद्यालय, चिकित्सालय ही नहीं, प्रशासन के काम, नल, बिजली तक चल रहे हैं। यह राजतंत्रीय

व्यवस्था है। पंडितों ने इस व्यवस्था को स्थायी बनाने के लिए, इसके भाव को पुष्ट करने के लिए कई-कई कथाएँ गढ़ ली हैं। परलोक में उसका फल, पुनर्जन्म में फल मिलना बता दिया।”

पंडितानी ने कहा, “आपकी यही बातें तो आपको लोगों का विरोधी बना देती हैं। आप अपने-आपको बड़ा आदमी मानते हो और बातें करते हो विलकुल उलटी। औरतें इसीलिए मुहल्ले में आपकी चर्चा करती रहती है। कोई भी आपको पसंद नहीं करती।”

झट पंडितजी ने कहा, “तुम तो करती हो। मुझे कोई पसंद करे न करे।” हलकी मुसकराहट के बाद फिर पंडित लाल ने कहा—“यह तुम्हारा समझना है। मुहल्ले में तुम्हारा जो सम्मान है वह मेरी प्रतिष्ठा के कारण ही है।”

पंडितानी को कही और जाना था। इसलिए समाप्त करने के भाव से कहा, “कल शाम को चैतन्यधाम चलेंगे, वहीं शक्तिपीठ के आचार्यजी से इसके संबंध में चर्चा करेंगे।”

वृंदावन बिहारी लाल प्रसन्न थे। पिंड छूटा। उनका लाया हुआ खरबूजा वच गया। मेहमान का काम चल जाएगा। गृहलक्ष्मी बड़े ही उतावले स्वभाव की है। वृंदावन बिहारी लाल समझते थे पिंड छूटा, इसलिए उन्होंने गृहलक्ष्मी की इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया कि शाम को आचार्यजी से इस संबंध में चर्चा करने चलेगे। समझते थे अब कौन जाता है। शाम तक जाने क्या होता है। लेकिन पाँच बजे नहीं कि गृहलक्ष्मी पंडितजी के कमरे में आ धमकी।

वृंदावन लाल कैसे ‘न’ कह सकते थे। कहा, “अच्छा चलेगे। तैयार हो जाओ।”

पंडितानी को तैयार होते देर नहीं लगी। तब तक पंडितजी की लेखनी चलती ही रही। आते ही पंडितानी ने कहा, “कभी तो इस कलम को विश्राम दिया करो। दिन-रात लिखना... लिखना। हम भी इस घर में रहते हैं। कभी-कभी तो चलने की कहते हैं।”

वृंदावन लाल गृहलक्ष्मी के भावुक एवं संवेदनशील स्वभाव से परिचित थे। इसलिए लेखनी रख तत्काल उठ खड़े हुए। गृहलक्ष्मी दोबारा

आए तब तक धोती-कुर्ता पहनकर तैयार।

चैतन्यधाम नगर का प्रशांत निलय है। चारों ओर हरियाली। पहाड़ों से घिरी वाटिका। बीच में देवी मंदिर। मंदिर के नीचे साधना-स्थली। कुछ दूरी पर बसी कुटिया। इसमें रहते हैं रेवती रमण सिद्धकाम। बालब्रह्मचारी। केश बढ़े हुए। काशाय वस्त्र पहने। दोनों ने पहुँचते ही चरण-स्पर्श कर कुशासन ग्रहण किया।

“बहुत दिनों बाद पधारें पंडितजी !” आचार्य ने सहज भाव से प्रश्न किया।

“जीवन व्यस्तताओं का पनघट है। एक-न-एक काम लगा रहता है।” पंडितजी ने कहा।

पंडितानी मन-ही-मन हँस रही थी, ‘कितना झूठ बोल रहे हैं। दिन-भर कुर्सी से चिपके रहते हैं। कलम हाथ में लिए लिखते रहना। घर का कोई काम नहीं करना, बस यही काम है।’

“कहिए, कैसे पधारना हुआ ?” आचार्य ने प्रश्न किया।

“जीवन झंझटों में उलझ, जब-जब मानसिक तनाव जीने लगता है, तब विवेक शांति चाहने लगता है। यहाँ से बढ़कर और शांति कहाँ मिलेगी ? नगर में यह एक ही तो स्थान है।” पंडितजी की ये बातें सुनकर गृहलक्ष्मी से रहा नहीं गया। वह बोल उठी, “आचार्यजी, मेरा एक प्रश्न है। हम जैसा मंदिरों में चढ़ावा चढ़ाते हैं, दान-पुण्य करते हैं, वैसा ही परलोक में मिलता है न ? ये कहते हैं, यह मंदिरों की व्यवस्था-भर है। संग्रहीत का अभावो में वितरण है।”

पंडितानी ने प्रश्न को बहुत संक्षेप में और स्पष्टता से रखा। यह जान-कर वृंदावन बिहारी लाल को मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नता हुई। वह भी आचार्य के उत्तर की प्रतीक्षा में सतृष्ण से उनकी ओर देखने लगे।

आचार्यजी ने कहा, “आप भी ठीक हैं और ये भी। विचार की दोनों की अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। आपका चितन आध्यात्मिक है और इनका भौतिक। जो कुछ दृश्यमान है वह पंडितजी कह रहे हैं उसी अनुसार है और जो पारलौकिक विचार है वे आप कह रही हैं। हमारे शास्त्र इसके साक्षी हैं। शास्त्र कभी असत्य नहीं है।”

गृहलक्ष्मी पंडितजी की ओर अभिमुख होकर बोल उठी, “कहिए, मैं ठीक कह रही थी न ?”

पं० वृंदावन बिहारी लाल ने मौन रहना ही विवेकसम्मत समझा। वह कुछ नहीं बोले। पुनः आचार्यजी बोले, “यह भी ठीक है। आप भी ठीक है।” उन्होंने अपने कथन की पुष्टि में तुलसी की यह चौपाई दोहरा दी—“जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।”

पंडितानी प्रसन्न थी। आचार्य के चरण-स्पर्श कर उठ चल दी। पंडित लाल को उसके पीछे-पीछे चलना पड़ा।

सोने की मोहरें

सूरज ने गोखड़ों पर दस्तक दे दी, तब तक कश्यप के घर की आज कुंडी नहीं खुली। कल तक जहाँ मेहमानों-पाहुनों की भीड़ का जमघट था, वहाँ सुबह-सुबह मौन का एक गहरा सन्नाटा छाया हुआ। तरह-तरह की बातें थी। माँ के नुकते का बड़ा काम था। उसे निपटाकर चैन की नींद सोए हैं। क्यों न सोए रहें, कोई कहता, अवश्य आज कोई बड़ी बात है। बात को बढ़ाते हुए कोई कहता, रात को जरूर बक्सा खुला है। कोई कहता, किसी को मालूम नहीं पड़ जाए, इसलिए सब मौन है। कोई कहता, लगता है बक्से में कुछ नहीं निकला, उसी गम में सोए पड़े हैं, अन्यथा इतनी देर तक इनके किवाड़ बंद नहीं रहते। बच्चा तक बाहर नहीं।

विश्वास तक भी यह कानाफूसी पहुँची। उसके समर्थक वहाँ जमा होने लगे। कश्यप के समर्थक उसको देखने आते और चले जाते। एक अतीव घनिष्ठ मित्र ने दरवाजे की साँकल को बजाया। बड़ी देर में साँकल खुली। कश्यप का मुख उदास था। हवाइयाँ उड़ रही थी।

“क्या हुआ, इतनी देर तक आज कैसे सोए रहे? किवाड़ नहीं खोले, क्या बात है?”

“कुछ नहीं। थके थे, इसलिए सोए रहे। कुछ काम भी नहीं था।”

विश्वास के यहाँ एकत्रित लोग भी आ गए। वे भी सुनने लगे। कश्यप समझ तो गया, पर मन की पीडा जिससे कहे, ऐसा कोई नहीं था। बस इतना ही बोला, “कोई बात नहीं है। सब प्रभु की कृपा है। आप लोग मेरी कितनी चिंता करते हैं। यही पड़ोसी-धर्म है।”

इतने में ही वसुधरा की आवाज आई, “आओगे भी या बाहर ही गप्पें लगाते रहोगे।” कश्यप अपना पिंड छुड़ाना चाहता ही था। बहाना मिल गया, “राम-राम... अच्छा !”

सब उसे राम-राम कहें, उसे सुने बिना ही वह तुरत-फुरत भीतर चला गया और किवाड़ बंद कर लिए। इनका आना उसे कटे पर नमक छिड़कने के बराबर लगा।

जब महेश्वर का देहांत हुआ था, तब विश्वास बड़ा हो चुका था। विवाह भी हो गया था, लेकिन कश्यप छोटा था। बाहर पढ़ रहा था। महेश्वर के ये दो ही लड़के थे और कोई संतान नहीं थी। यह भी एक रहस्य की कहे या भाग्य की बात, कि एक गँवई सेठ का पुत्र होते हुए भी महेश्वर अपने जीवन के अंतिम दिनों को बड़ी आर्थिक कड़की से काट रहा था। जमीन थी, उसे बेच-बेचकर अपनी चिकित्सा करवाई, परंतु वह भी निरर्थक गई। उसके प्राण-पखेरू उड़कर ही रहे।

विद्योत्तमा पढ़ी-लिखी नहीं थी। घर की आर्थिक तंगी ने उसे अपनी जेठानियों और देवरानियों के समक्ष सिर उठाने नहीं दिया। वह आर्थिक दुर्बलता से उनके आगे दबी रही। उसके मौन ने उसके व्यक्तित्व का भी विकास नहीं होने दिया। इसलिए पति महेश्वर के देहावसान के बाद बड़े पुत्र विश्वास ने ही घर की चाबी सँभाली। विद्योत्तमा उसी के पास रहेगी यह भी निश्चय था, लेकिन द्वादश कर्म के दिन जब सारे संबंधी आए हुए थे तब विद्योत्तमा के भाई घनश्याम ने पचो से यही कहा था, “आप सब लोग मिलकर ऐसी व्यवस्था कर दें, जिससे बहन विद्योत्तमा को भविष्य में कष्ट न हो। भैया कश्यप भी अभी पढ़ रहा है। उसे भी बड़े होने और विवाह-नौकरी कर अपने पैरों पर खड़े होने में अभी देर लगेगी। इसलिए कोई ऐसी व्यवस्था हो जाए जिससे दोनों भाइयों के बीच आगे चलकर कोई आपसी टकराव न हो।”

रात को द्वादश कर्म व सहभोज से निवृत्त होने के बाद बँगले में पंच लोग बैठे। जातिवाले ही नहीं, गाँव के हितैषी लोग भी आए। कुछ दर्शक बनकर आ बैठे। गैस की रोशनी में सबके चेहरे साफ दिखाई दे रहे थे। भाई घनश्याम ने वही बात रखी।

पंचों ने दो हिस्सों में जमीन बाँट दी। दो हिस्सों में मकान बाँट दिया। जो सामान विद्योत्तमा के पास था, वह यथावत् उसके पास रहने दिया। माँ विद्योत्तमा भी वही थी। उसे अपने बच्चों पर विश्वास था। उसने अपनी

सहमति दे दी।

विद्योत्तमा ने एक ही बात कही, “मुझे करना भी क्या है। किसी के पास भी रहकर जीवन काट दूंगी।”

विश्वास ने तब एक ही बात कही थी, “माँ अभी तो मेरे पास रहेगी ही। लेकिन कश्यप के विवाह के पश्चात् वह दोनों के यहाँ आएगी-जाएगी। तब इसके पास की पूँजी का क्या होगा?”

पंचों में इस विषय को लेकर दो धड़े हो गए कि माँ की पूँजी का भी बँटवारा कर दिया जाए, परंतु घनश्याम के विरोध के कारण बँटवारा रुक गया। विद्योत्तमा तो बँटवारे को तैयार थी, स्वयं उसके पास रखा भी क्या था। ले-देकर एक बक्सा था। परंतु कश्यप और विश्वास दोनों तैयार नहीं थे। कुछ पंच भी तैयार नहीं थे। उनका कहना था, “विद्योत्तमा के पास कुछ भी नहीं रहा और दोनो लड़के भी बदल गए तो उस बेचारी का कौन धनी-धोरी होगा। अभी उसके पास जो कुछ है वह उसके पास ही रहना चाहिए। इससे दोनों बेटे इसकी सेवा भी तन-मन से करेंगे।”

अंततः यही तय हुआ कि बक्सा माँ के पास ही रहेगा।

जब तक कश्यप का विवाह नहीं हुआ, तब तक कोई झगड़ा नहीं खड़ा हुआ। सारी जमीनो और मकान पर विश्वास का ही अधिकार रहा। विद्योत्तमा भी उसी के पास रही। कश्यप का विवाह क्या हुआ, उसकी पढ़ाई रुक गई। वह अपने गाँव लौट आया। कुछ दिन दोनो साथ ही रहे, लेकिन वसुधरा और गंगा दोनो के, काम के लिए होते झगड़ों से मुक्ति पाने के लिए, विभाजन कर अलग-अलग हो जाने का निर्णय कर लिया।

विभाजित जमीन पर पहली बार अलग-अलग स्वामी खड़े दिखे। मकान के बीच में दीवार उठ गई। आगे का हिस्सा कश्यप का था। तो भी वसुधरा यही कहती, “हमें मकान का हिस्सा थोड़ा मिला है।”

इसी बात पर गंगा और वसुधरा मे कहा-सुनी हो जाती। दोनो के बच्चो मे झगड़ा हुआ कि दोनों लड़ पड़ती। किसी साल जमीन मे किसी के उपज अधिक हो जाती तो दूसरी जलती। जिसके अधिक उपज होती अपने भाग्य को सराहती और दूसरी में दसियों दोष बताकर भला-बुरा कहती। दूसरी सुनती या कोई पड़ोसिन जाकर कान भरती तो आपस में आना-जाना,

बोलना तक बंद करवा देती ।

दोनों भाइयों में कभी आना-जाना या बोलना बंद नहीं था । जब वसुधरा गर्भवती थी, बाल-बच्चा होने को था, तब कश्यप ने सोचा, क्यों न विद्योत्तमा को वह विश्वास के पास से ले आए । वह अच्छा दिन देखकर उसे लिवाने गया भी । जब विद्योत्तमा चलने को हुई तब कश्यप ने विश्वास से कहा कि इसका बक्सा कहाँ है ? विद्योत्तमा बीच में ही बोल उठी, “बक्से का क्या करेगा ? कोई दूर थोड़े ही जा रही हूँ ।”

“हाँ...हाँ...ठीक है...ठीक है ।” कहकर वह सकुचाया-सा माँ को लिवा लाया ।

कश्यप के लड़का हुआ । चाहे-अनचाहे गंगा भी आई-गई । सूरज पूजन में सम्मिलित हुई । उसने किसी पर प्रकट नहीं होने दिया कि उसके मन में वसुधरा के प्रति कोई अप्रसन्नता है । वह उससे क्षुब्ध है । जो मेहमान आए थे, सब चले गए । फिर वही सामान्य-सा जीवन-क्रम ।

एक दिन सास-बहू बैठी नवजात पुत्र मुकुल को खिला रही थी, तभी वसुधरा ने कहा, “माँजी, आपने बक्सा वहाँ क्यों रख रखा है ? कहीं पीछे से किसी ने कोई चीज निकाल ली तो ? बक्सा यही मँगवा लो ।”

“अरी बहू, उसमें धरा ही क्या है ।” विद्योत्तमा ने कहा ।

“माँजी, खाली हाथ तो आप हो नहीं । कहते हैं आपने सोने की मोहरें छिपाकर रख रखी हैं ।”

“अरी, मेरे पास कहाँ से आई सोने की मोहरें । सारा पैसा, सारी रकम तो उनकी बीमारी में ही लग गई । जो कुछ सोना-चाँदी था वह विश्वास की शादी में लग गया ।”

“माँजी, हमें तो आपने कुछ दिया ही नहीं । आपने हमें तो कभी अपना बेटा-बहू माना ही नहीं ।”

“अरी, तू भी यह क्या कह रही है । बेटा-बहू नहीं मानती तो यहाँ आती ही क्यों ?”

“इससे क्या होता है, घर तो आप बड़ों का भर रही हैं ।”

बात बढ़ते-बढ़ते कश्यप तक जा पहुँची । रात को नमक-मिर्च मिलाकर वसुधरा ने कश्यप के कान भर दिए । कश्यप को भी लगा कि बक्सा माँ

के साथ ही रहना चाहिए। पीछे से किसी ने ताला खोलकर उसमें से कुछ निकाल लिया तो ?” दीवार ही तो बीच में थी। माँ-बेटों के बीच उठा विवाद जैसे ही उग्र हुआ, गंगा और विश्वास दीवार से कान लगाकर सुनने लगे।

“अरे, उस बक्से में क्या रखा है, जिसके लिए तूने इतना बड़ा तूफान खड़ा कर रखा है ?”

“माँ, तू तो जानती है, जब तक मैं पढ़ता रहा, भाई साहब मेरी जमीन की सारी उपज खाते रहे। मुझे पढ़ाई में क्या देते थे ? खाना भी हाथ से बनाकर खाता था। घी का नाम तक नहीं था। भाभी ने बरतन ऐसे दिए थे कि भगोनी के पेंदे में से पानी चूल्हे में झरता था। मुझसे मत कहलवा।”

बीच में ही वसुधरा बोल उठी, “हमें तो पंचों ने मकान में हिस्सा भी छोटा ही दिलवाया है।”

सुनते-सुनते विश्वास और गंगा के रोंगटे खड़े हो गए। वे सहमे-के-सहमे रह गए। कश्यप क्या कह रहा है ! हम उसकी जमीन का मुनाफा खा गए ! हमने मकान में हिस्सा अधिक लिया ! उसे पढ़ाते समय पूरा खर्चा नहीं दिया ! अच्छे बरतन नहीं दिए !

गंगा से नहीं रहा गया। वह बोल ही उठी, “कलियुग की दया हत्या होकर लगती है। मैंने इतने दिन चूल्हा फूँका, उनके पेट में गरम-गरम रोटियाँ ठूँसीं, उसका आज यह नतीजा दे रहे हैं। हमें चोर बता रहे हैं। हम पर चोरी का आरोप लगाते उनकी जीभ नहीं दाखी।”

“चुप भी रह भलीमानस।” विश्वास ने कहा।

“कैसे चुप रहूँ ! वे हमें चोर बताते रहें और मैं अधर भी नहीं खोलूँ।”

दोनों की ऊँचे स्वर में हुई बात को वसुधरा ने सुन लिया। वह भी बोल उठी, “मैं आपको चोर कब बता रही हूँ। मैं तो यही कह रही थी, जहाँ माँजी रहेंगी वहीं बक्सा भी रहेगा।”

“ले लो न दक्सा, जाओ जी, पटक आओ बक्से को वहाँ। इनकी भी छाती ठंडी हो जाएगी।”

“तुम्हारे यहाँ जब तक रहा तब तक तो तुम्हारी छाती ठंडी नहीं रही।” वसुधरा ने कहा।

दोनों बहुओं की दाँत कटाकट इतनी बढ़ गई कि आसपास के पड़ोसी

भी आ धमके। जिसका जो जितना हितैषी था, उसी के अनुसार उसके घर में चले गए। जो जिसके मकान में गया वह उसके ही हित की बात कहने लगा।

कश्यप के मकान का स्वर था, “सही बात है, जहाँ माँजी रहेंगी, वही उनका बक्सा रहेगा।”

विश्वास के मकान का स्वर था, “इतने वर्षों से बक्सा रखा था तब तो खाया नहीं, अब बक्से को खा जाएँगे।”

रात को फिर चौपाल बैठी। दोनों भाई कम बोले। दोनों के समर्थक पंच अधिक बोले। दूर अपने-अपने मकानों में बैठी बहुओं की समर्थक महिलाएँ अधिकतर वही से बोली। जो पुरुष बाहर चौपाल पर थे उनकी बहुएँ मकान में आ गई थी। पंचों का जमावड़ा ही तो था। बात में से बात निकलती रही। बात का उत्तर न निकल रहा था। फिर बात बढ़ जाती। आधी रात को जाते-जाते यह निश्चय रहा कि जब तक विद्योत्तमा जिएँगी, बक्से में ताला लगा रहेगा। ताले पर चिट लगी रहेगी, जिस पर दोनों भाइयों के हस्ताक्षर होंगे। जिसके यहाँ माँजी के सौ वर्ष पूरे होंगे, वही उनकी क्रिया करेगा तथा बक्से का जो भी सामान होगा वह उसी का होगा। लिखा-पढ़ी हो गई। दोनों के हस्ताक्षर हो गए। पंचों की साक्षी हो गई। माँजी उसी रात विश्वास के यहाँ चली गई।

दोनों भाइयों के बीच कटुता बढ़ गई। बोलचाल बंद हो गई। आना-जाना रुक गया। जहाँ भी पाँच लोग मिलते, कश्यप अपनी बात कहता और विश्वास अपनी। गाँव में समय काटने का और कोई साधन तब था भी नहीं। बीड़ी-तंबाकू पीते, यही तेरी-मेरी करना, गाँव में समय काटने का एकमात्र साधन था।

कश्यप के और भी बच्चे-बच्ची हुए, लेकिन विद्योत्तमा को वह नहीं लाया। उसकी ससुराल से सास आती और जापा सधवाकर चली जाती। समय निकलता रहा। विद्योत्तमा का शरीर ढलता रहा। न जाने क्या हुआ दोनों आँखों की ज्योति चली गई। कुछ कहते थे काला पानी आ गया। कुछ कहते थे जाला है। और कुछ कहते और बड़ा कारण है। एकाएक इस तरह आँखें थोड़े ही जा सकती हैं। आँखें क्या चली गईं, विद्योत्तमा को बुढ़ापे ने

दर्शन दे दिए।

गंगा ने कभी विद्योत्तमा को भार नहीं माना। जितनी बनी उसने उतनी सेवा की।

वास्तव में गाँव की सामान्यजीवी एक विधवा किसी परिवार से सेवा भी कितनी माँगती है। दो समय रूखी-सूखी रोटी। वर्ष में दो जोड़े मोटे-झोटे कपड़े। न कहीं आना, न कहीं जाना। फिर विद्योत्तमा की आँखें चली गई थी। जर्जर देहयष्टि हो गई थी। तीर्थ-यात्रा करती तो उसकी भी संभावना शेष नहीं रही। श्रवणकुमार तो इस कलियुग में बिरले ही होंगे, जो अपने अंधे माता-पिता को काँवर में बैठाकर तीर्थ-स्नान करवाएँ। महेश्वर जब जीते थे तब भी बेचारी ने रोगी पति के अलावा और कुछ नहीं देखा। बुढ़ापे में उसे और क्या सुख मिलनेवाला था। गीता भोजन बना देती। विद्योत्तमा सबके जूठे बरतन माँज लेती। यही क्रम था जीवन का।

इसी बीच कश्यप के लड़के की शादी आ गई। कश्यप और विश्वास का आपसी बोलचाल तभी बंद हो गया था, आना-जाना भी नहीं था। लेकिन पोते के विवाह में ही विद्योत्तमा नहीं आई, यह चर्चा का विषय हो सकता था। कश्यप भी चाहता था, आ जाए।

शादी के रिश्तेदार जुड़ने लगे। एक भाई के रिश्तेदार दूसरे भाई के भी रिश्तेदार थे ही। चर्चा चलते-चलते मामा बालेश्वर को यह काम दिया गया कि वह विद्योत्तमा को लिवा लाएँ और उनके साथ कश्यप का छोटा लड़का विनोद चला जाए। यह हुआ भी। विनोद ताई-ताऊ को विवाह का निमन्त्रण दे आया। साथ ही विद्योत्तमा को लिवा लाया।

विश्वास और गंगा तो यह चाहते ही थे। उन्होंने खुशी-खुशी विद्योत्तमा को पहुँचा दिया। इस बार विद्योत्तमा के साथ उसका बक्सा भी कश्यप के घर आ गया। बक्से को देते समय गंगा के माथे पर बल अवश्य पड़े थे। वसुधरा की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। बक्से में माँ के सोने के जेवर की कल्पना से वह हरी हो गई थी। उसने विद्योत्तमा का दौड़कर स्वागत किया।

शादी हो गई। नई बहू कश्यप के घर आ गई। किसी भी प्रकार विद्योत्तमा बक्से को खोले और नई बहू को मुँहदिखाई के नाम पर सोने की

कोई चीज बक्से में से निकालकर दे दे; इसका वसुंधरा और उसके महिला रिश्तेदारों ने, जब तक रहे, पूरा यत्न किया, लेकिन दोनों बेटों की उपस्थिति हो नहीं सकी, जिससे बक्से का ताला खुलता। बात आई-गई हो गई।

शरीर को ढलते और समय को जाते देर नहीं लगती। वसुंधरा ने इस बार विद्योत्तमा को विश्वास के यहाँ भेजने की बात तक नहीं की। भारी कष्ट था। मकान छोटा था। अलग से विद्योत्तमा के लिए आँगन में छाया करके छोटा-सा कमरा निकाला गया। शौच के लिए बाहर बाड़े में व्यवस्था की गई।

विद्योत्तमा की देह्यष्टि जन्म से इकहरी थी ही। बुढ़ापे ने जर्जर कर ही दी थी। अंधेपन ने उसमें घुन का काम किया। जब तक हाथ-पैर चले विद्योत्तमा ने अंधेपन में भी जूठे बरतन माँजे। सरक-सरककर बुढ़ारा निकाला। लेकिन एक समय ऐसा आ गया कि जब न उससे बरतन मँज सके, न बुढ़ारा निकल सके। सर्दियों में सर्दी खा गई। ज्वर आने लगा। टाइफाइड बन गया। स्थिति बिगड़ गई। गाँव में कोई डाक्टर तो था नहीं। लौंग-पीपलवाली चिकित्सा कितने दिन चलती। एक दिन विद्योत्तमा के सौ वर्ष पूरे हो गए। घर में रोना-पीटना मच गया।

द्वादश कर्म के दिन मेहमानों का जमघट था। वही रिश्तेदार थे। वही बाते फिर चल पड़ी। इस बार विश्वास की ओर से बात उठी। माँ नहीं रही। उनके बक्से का सामान आधा-आधा होना चाहिए। भले उसे क्रिया-कर्म के खर्च का आधा खर्च क्यों न देना पड़े। माँ का सारा जीवन विश्वास के यहाँ ही बीता है। बस, मरने को ही कश्यप के यहाँ आई थी।

चौपाल भर गई। बिछायत पर आदमी समाते नहीं थे। गैस की रोशनी जगमग कर रही थी। सब अपनी वाक्-पटुता सिद्ध करने के लिए बढ़-बढ़कर बोल रहे थे। लेकिन होना क्या था। पुरानी लिखावट आ गई। उसमें साफ लिखा था, जिसके पास विद्योत्तमा रहेगी, बक्से का सामान उसी का होगा। वही क्रिया करेगा। जीत कश्यप की हुई।

वसुंधरा की प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं रहा। विश्वास के घर मातम की स्थिति आ गई। गंगा कहने लगी, “सारी उम्र तो दुःख हमने उठाया और माल वे खाने में लगे।”

वसुंधरा के कान मानो दीवार पर ही लगे थे। उसने सुना तो खरी-खाटी सुनाने लगी। हंगामा मचते-मचते बचा। कश्यप बीच में पड़ गया। वह जीत की बाजी का मजा बिगाड़ना नहीं चाहता था। कान में मुँह लगाकर उसने वसुंधरा से कहा, “इन्हें बकने दो। बक्सा यहाँ रह गया, इसलिए वह तो छाती पीटेंगे ही, तू क्यों बोल रही है। चुप रह।”

वसुंधरा ने चुप्पी साध ली। लेकिन उसके मन में शांति कहाँ थी। वह तो चाहती थी, देर न हो। जितनी जल्दी ही बक्से की चिट तोड़ी जाए। बक्सा खोला जाए और सोने की मोहरें निकाली जाएँ। जो निकटतम रिश्तेदार रह गए थे वे भी आँखों में किरकिरी की तरह खल रहे थे।

रिश्तेदारों को, सगे-संबंधियों को जाना ही था, वे गए। रात को वसुंधरा ने कश्यप को छेड़ा ही। कश्यप उसकी बात टाल न दे, इन्कार न कर दे इसलिए उसने उस रात जैसे भी जितना प्रसन्न कर सकती थी, कश्यप को किया। कश्यप भी प्रसन्न था। वसुंधरा ने कहा, “देखें बक्से में क्या है, उसे खोलो तो।”

कश्यप कैसे इन्कार कर सकता था। उसने तो वसुंधरा के सामने बक्से को लाकर रख दिया। वसुंधरा कब रुकनेवाली थी।

बक्सा रखते देर हुई तो उसे चिट तोड़ते व ताला खोलते देर नहीं हुई। बक्सा भरा था। एक-एक करके कपड़े हटाए गए। कपड़े भी सब पुराने जमाने के। एक भी पहनने योग्य नहीं। बड़े छीट के गले घाघरे। वायल के लूगड़े गोटा लगे। वे काले पड़ गए थे। वर्षों से बक्सा खुला ही नहीं था। कीड़ियाँ एक-एक करके बीच में रेंगती मिलती। अब सोने की मोहरें निकले, इस आशा में वसुंधरा ने सारे कपड़े निकालकर बाहर पटक दिए। लेकिन मोहरों की कोई पोटली कही नहीं थी। उसके चेहरे की प्रसन्नता एकदम कपूर-सी उड़ गई। दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए बोली, “मोहरें तो जेठजी ने पहले ही निकाल ली हैं। हमें तो खाली बक्सा दिया है।” और यह कहते-कहते वह फूट-फूटकर रोने लगी, “अरे, हम तो लुट गए....”

बंशीवाला

सदाशिव से रहा नहीं गया और उसने छलाँग लगा ही दी। पार्वतीपुर में जब से बाँध बना है और बड़ी नहर निकली है, मना करने पर भी मुहल्ले के छोटे बच्चे तैरकर नहाने से बाज नहीं आते।

उस दिन भी मुहल्ले के बच्चे नंगे-अधनंगे कूद-कूदकर नहर में नहा रहे थे। बहाव के साथ दूर तक बहते चले जाते और डूब-डूब करके बड़ी कठिनाई से किनारा पकड़कर बैठ जाते और वहाँ से दौड़ते हुए आते और फिर कूद जाते। बच्चों का यह खेल हो गया था। बड़े दौड़कर, कलामुंडी खाकर दूर बहाव में कूदते और बहते। बच्चों का यह क्रम चल रहा था। सदाशिव उसी नहर से सटे शहरकोट की दीवार पर अकेला बैठा यह खेल देख रहा था और अपने मन के उदास सन्नाटे को एक अप्रत्याशित कोलाहल से भर रहा था।

नहर में पानी छोड़ने, बढ़ाने-घटाने का काम सिंचाई विभाग का था। कंट्रोल रूम वहाँ से नहीं दिखता था। वह मुख्य बाँध के पास ही, जहाँ से नहर निकली थी, था। वे कब पानी अधिक छोड़ते हैं और कब कम करते हैं, इसका कोई निश्चित समय नहीं था।

पानी का एक बड़ा रैला आया। जलस्तर ही नहीं बढ़ा, पानी का बहाव भी तेज हो गया। मगर गफूर ने छलाँग लगा दी थी। वह तेज बहाव में बहने लगा। मुहल्ले के साथी लड़के समझते रहे, गफूर किनारा पकड़ लेगा, वे नहीं दौड़े। गफूर बहता हुआ ऊब-डूब करने लगा। उसकी शक्ति चुकने लगी। वह चिल्लाया, “मरा-मरा, बचाओ-बचाओ !”

सदाशिव अपने बुजं पर बैठा था। जब उसने गफूर की चीत्कार सुनी तो उससे रहा नहीं गया। वह वही से नहर में कूद पड़ा। आनन-फानन में गफूर को कंधे का सहारा देकर तेज बहाव से टक्कर लेता हुआ किनारे ले

आया। सदाशिव के कूदते ही आसपास के लोग, किनारे चलती हुई भीड़ रुककर इकट्ठी हो गई। एक ने दौड़कर सदाशिव को ऊपर खींच लिया। सभी ने सदाशिव के साहस व दिलेरी की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

सुबह ही अखबारों में सदाशिव का फोटो छप गया। उसके साहस व पराक्रम का यशस्वी वर्णन संपादकों ने किया था। १५ अगस्त का राष्ट्रीय समारोह होने को था। जिला कलक्टर तक यह बात पहुँची। नहर विभाग के बड़े इंजीनियर जिला कलक्टर को साथ लेकर पार्वतीपुर आए। सदाशिव की खोज शुरू हो गई।

सदाशिव पार्वतीपुर ग्राम के बाहर एक झोंपड़ी में निवास कर रहे ओंकार राव बाजीगर का लड़का था। ओंकार राव ने सदाशिव को उस घटना के एक दिन पहले बुरी तरह मारा था। ओंकार राव चाहता था कि उसका लड़का जल्दी ही बाजीगरी के कौशल में दक्ष हो जाए। रीछ और बंदर को गाँव-गाँव ले जाए। गाँववालों को डमरू व बंशी बजाकर इकट्ठा करे। बंदर के कंधे पर लकड़ी धर ससुराल जानेवाला प्रसिद्ध खेल दिखाए। रीछ को उलटे पाँव चढ़ता हुआ दिखाए और जो पैसा मिले उसे परिवार के लिए लेकर आए। मुँह से गोला निकालने जैसे जादू के खेल करे और अपना पेट भरे। सदाशिव अपनी कच्ची उम्र में ही सब करतब सीख गया था। जादू के करिश्मे बड़ी सफलता से दिखाने लगा था। कभी रीछ को तो कभी बंदर को गाँवों में ले जाने लगा था। बंशी व डमरू तो ऐसी बजाने लगा था कि गाँववाले उसे बहुत प्यार करने लगे थे, पर सदाशिव बाजीगर बनना नहीं चाहता था। वह चाहता था पढ़े-लिखे और अपनी जिदगी केवल अपना पेट भरने में ही नहीं, देश और समाज की सेवा में लगाए। उसका पिता ओंकार राव अपनी आर्थिक कठिनाई के कारण यह सब नहीं चाहता था। इसी झगड़े में उसने सदाशिव को रात को बहुत मारा था। सदाशिव रूठकर रात को झोंपड़ी से भाग आया था तथा कोट के बुर्ज पर ही उसने रात बिताई थी।

ओंकार राव ने जब सुना तो वह सदाशिव को घसीटता हुआ झोंपड़ी पर ले आया। नहर में कूदने के अपराध में उसे और मारा। मार खाकर भी सदाशिव ने यही कहा, “गफूर डूब रहा था। उसे नहीं बचाता तो वह बह

जाता। उसकी जान बचा दी तो मैंने क्या बुरा किया।”

ओंकार राव जब सदाशिव को गालियाँ दे रहा था, तब ही दो-तीन जीपें व एक कार धूल उड़ाती हुई उसकी झोंपड़ी की ओर आईं। दरवाजे पर कारें रुकी देखकर वह स्तब्ध रह गया।

एक व्यक्ति ने जीप से उतरकर उससे पूछा, “कहाँ है सदाशिव ? कल उसका सम्मान होगा।”

ओंकार राव कुछ नहीं समझा। कोई भारी विपत्ति जानकर हक्का-बक्का रह गया। सदाशिव वही खड़ा था। जीप में बैठे एक व्यक्ति ने उसे पहचान लिया। उतरकर उसने सदाशिव को संबोधित करते हुए कहा, “यही है सदाशिव, इसी बच्चे ने गफूर को डूबने से बचाया था।” उसने ओंकार राव से कहा, “डरो मत, जिलाधीश महोदय सदाशिव की बहादुरी पर प्रसन्न है। कल १५ अगस्त को उसको सम्मानित किया जाएगा।”

“तुम ही हो सदाशिव ?” जिलाधीश ने कार से नीचे उतरकर उसके कंधे पर हाथ धरते हुए पूछा।

सदाशिव ने स्वीकृतिसूचक गरदन दो बार नीची-ऊँची की।

“तुम बड़े साहसी बच्चे हो। तुम जैसे साहसी बच्चों पर देश को गर्व है। कहाँ तक पढ़े हो ?”

ओंकार राव बीच में बोल उठा, “बाजीगरों के बच्चे कहाँ पढ़ेंगे, महाराज।”

“तुम पढ़ना चाहते हो ?” सदाशिव से जिला कलक्टर ने फिर पूछा। सदाशिव ने फिर दो बार अपनी ठुड्डी सीने पर अड़ाई और उठाई। वह पढ़ने की स्वीकृति दे रहा था।

ओंकार राव को इंगित करते हुए जिला कलक्टर ने कहा, “हम इसकी शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था करा देंगे। ऐसे हिम्मतवाले बच्चे आगे चलकर बड़ा नाम कमाते हैं।”

ओंकार राव बोले, इससे पहले ही आसपास इकट्ठे हुए लोगों में से एक बोल उठा, “साहब, यह (ओंकार राव) क्या कहेगा ? इसकी (सदाशिव) शिक्षा की व्यवस्था करा दें।”

इसी बीच दूसरा बोल उठा, “साहब, इसे तो सैनिक स्कूल में ट्रेनिंग

दिलवाओ। एक अच्छा जवान बनेगा। ऐसे साहसी बच्चे सैनिक बनते हैं।”

जिला कलक्टर ने बड़े सोच-विचार के बाद कहा, “ठीक है।”

यह कहते हुए गाड़ी में वापस बैठ गए। फुर्र-फुर्र कर गाड़ियाँ धूल उड़ाती उड़ गईं। सदाशिव एकटक खड़ा गाड़ियों को जाता देखता रहा।

सदाशिव को सरकारी खर्च पर माहिष्मती सैनिक स्कूल में दाखिल करवा दिया गया। सैनिक स्कूल में सभी का लाड़ला होते सदाशिव को देर नहीं लगी। रात्रि कैप फायर में उसकी बंशी बजती। डमरू पर वह तांडव नृत्य करता। जादू के विभिन्न खेल दिखाता। उसने सभी का मन मोह लिया था। सभी कैडिटों में उसे बंशीवाले के नाम से पुकारा जाने लगा था।

सदाशिव का सैनिक स्कूल में आखिरी वर्ष था। वह बहुत प्रसन्न था कि उसने सैनिक शिक्षा ली है। उसे शीघ्र ही प्रमाण-पत्र मिल गया। उसने निश्चय किया कि वह सेना में रहकर अपने देश की सेवा करेगा, परंतु एक दिन की घटना ने उसकी दिशा ही बदल दी। स्कूल के वार्षिक समारोह में देश के एक बड़े जादूगर को बुलाया गया था। उसका जादू का खेल चल रहा था तभी कैडिटों के बीच में से धीमी-धीमी आवाज उठ रही थी, “बंशी-वाले को बुलाओ, बंशीवाले को बुलाओ। बंशीवाले का भी खेल दिखाओ।”

धीमा-सा सुरीटिया एक बड़े आग्रह में बदल गया। जादूगर इसे अपने काम में बाधा समझ रहा था। उसने मंच से ही कहा, “कौन है बंशीवाला, आ जा मेरे सामने। मुझसे अच्छा खेल दिखाए तो मैं उसका शागिर्द हो जाऊंगा।”

इतना कहना था कि आसपास बैठे कैडिटों ने जबरदस्ती सदाशिव को खड़ा कर दिया और मंच तक ले गए। सदाशिव ने अपना वह जादू का खेल दिखाया, जिसे उसने अभी तक वहाँ किसी को नहीं दिखाया था। एक बड़ा आकर्षक व चमत्कारी जादू का खेल। जमीन पर लेटी हुई लड़की उसकी बंशी की धुन के साथ अपने-आप उठ रही थी। यह देखते ही जादूगर के पाँवों में पसीना आ गया। उसने दौड़कर सदाशिव को बाँहों में भर लिया।

“बहुत अच्छे, बहुत अच्छे, मेरे बच्चे, तुम तो बहुत बड़े जादूगर बनोगे। यहाँ कैसे पड़े हो। चलो मेरे साथ। तुम्हें विश्व का माना हुआ जादूगर बना दूंगा।”

“नहीं, नहीं,” दर्शक कैडिटों में से आवाज आई, “हम बंशीवाले को नहीं जाने देगे।”

जादूगर ने एकांत में सारे विश्व में घुमाने का लालच देकर सदाशिव का मन मोह लिया। सदाशिव स्कूल की ट्रेनिंग पूरी होते ही, प्रमाण-पत्र लेकर जादूगर के पास पहुँच जाएगा, यह निर्णय रहा। जादूगर ने भी बराबर पत्र-संपर्क बनाए रखा और प्रलोभनों से अपने पास खींच ही लिया।

सदाशिव को प्रसिद्ध जादूगर बनते देर नहीं लगी। अब वह सारे देश के बड़े-बड़े नगरों में घूम चुका है। बाहर विदेशों में भी उसके जादू के प्रदर्शन हो चुके हैं। उसने काफी धन कमा लिया है। रहने को कोठी, बैठने को कार, सभी उसके पास हो चुके हैं। लेकिन सदाशिव का मन अंदर-ही-अंदर विद्रोह कर रहा है। क्या जीवन का उद्देश्य केवल अपने पेट के लिए पैसा कमाना ही है? जनता का हलका मनोरंजन करते रहना ही है? इससे समाज या देश की क्या सेवा हुई है? क्या जादू के खेलों से देश तरक्की कर सकेगा? मेरी सैनिक स्कूल की सारी शिक्षा व्यर्थ चली गई। इसी सोच में वह घटो डूबा रहा। वह सोचने लगा, ‘मुझे अपने देश व समाज के लिए भी कुछ करना चाहिए।’ फिर जादू के खेल दिखाने में उसका मन नहीं लगा।

सयोग ऐसा मिला। सन् १९६२ की बात है। चीन ने उर्वशीयम में अचानक आक्रमण कर दिया। चीनी सेनाएँ भारतीय सीमा में बढ़ी आ रही थी। भारत की फौजें पीछे हट रही थी। अपनी सेना के पीछे हटने के समाचार ने सदाशिव का मन झकझोर दिया। वह कसमसा उठा। उसकी मुट्ठियाँ भिन्न गईं। जोश में शिराएँ शरीर पर उभर आईं। उसका सैनिक स्वरूप उभर उठा। उन्ही दिनों मिलिट्री में भर्ती चल रही थी। ऐसे प्रशिक्षित व्यक्ति को कौन नहीं लेता। वह ले० कमांडर बन गया और सीमा पर भेज दिया गया।

सदाशिव ज्यों ही सीमा पर पहुँचा, वह अपनी टुकड़ी को लेकर बड़ी मुस्तैदी से शत्रु की सेना को रोकने में लग गया। कई मोर्चों पर उसने विजय हासिल की। सेना में उसका नाम गूँज गया। चीनी सेनाएँ तेजी से पीछे हटने लगीं। तभी युद्धविराम की घोषणा हो गई। वह वापस लौट आया।

अखबारों में विजेताओं के रूप में उसके बड़े-बड़े चित्र छपे। उसकी जीवनी छपी। जब उसकी बहादुरी के लिए राष्ट्रपति ने उसे पदक दिया, तब उसने अपने सम्मान में यही कहा, “पेट की भूख से देश की रक्षा का प्रश्न बड़ा है। मैंने अपने पिता की मार इसलिए खाई थी कि मैं केवल अपने लिए नहीं जीना चाहता था। मैंने जादूगरी छोड़कर मिलिट्री में इसीलिए प्रवेश लिया था कि संकट के समय देश की कुछ सेवा कर सकूँ।”

राष्ट्रपति ने जब उसके सीने पर पदक लगाया तो हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। सभी कह रहे थे, “यह वही है जिसने अपने बचपन में नहर में कूदकर गफूर की जान बचाई थी। आज मोर्चे पर लड़कर देश को बचाया है।”

पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते हैं।

संवेदना के क्षितिज

दोनो विज्ञापन साथ-साथ प्रकाशित हुए थे, एक ही दैनिक 'आज का भारत' में। जिसने भी पढ़ा, संपादक के चातुर्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा। कैसा होशियार है, दोनों को दूर जाने की जैसे अब कोई आवश्यकता नहीं रही। दोनों को परस्पर मनचाहा मिल गया। कोई किस्मत की ओर इंगित करता, ललाट को उँगलियों के पोरों से छूकर कहता, "कैसे हठी हैं किस्मत के कि घर आई गंगा को नहीं देख पा रहे है। किनारे खड़े होकर प्यासे हैं। यदि इनमें बुद्धि हुई तो एक होते देर नहीं करेंगे।"

ऐसा हुआ भी।

निवेदिता के पिता नवेन्द्रनाथ भट्टाचार्य ने पहले अपना दिया विज्ञापन पढ़ा, यथावत् था। संतोष की एक लबी साँस खींचते हुए उनकी दृष्टि 'विवाह योग्य लड़की चाहिए' शीर्षक पर पड़ी जो उसी विज्ञापन में सटा हुआ दूसरा विज्ञापन था। धनेन्द्रनाथ चटर्जी, आयु २७ वर्ष, ऊँचाई ५ फुट ६ इंच, रंग गोरा, स्वस्थ शरीर, आकर्षक व्यक्तित्व, एम० ए०, एल-एल० बी०, राजकीय औद्योगिक प्रतिष्ठान में उच्चपदस्थ अधिकारी। कोई कुलीन घर की शिक्षित, समवयस्क, गौरांग लड़की चाहिए। पत्र-संपर्क का पता—आदि।

भट्टाचार्य बाँसों उछल पड़े। उन्हें और क्या चाहिए था। लेटे थे, उठ बैठे। उनके आगे निवेदिता का चित्र खिंच आया। चित्र ही नहीं, मानो निवेदिता साक्षात् सामने आ खड़ी हुई हो। ५ फुट ३ इंच, आयु २४ वर्ष, गौरांग, बी० ए०, बी० एड०, उच्च माध्यमिक विद्यालय में कार्यरत अध्यापिका। दाएँ कंधे पर बैंग लटकाए, पैरों में ऊँची एड़ियों के सैंडल, बाएँ कंधे को पार कर पीठ पर लहराता प्रिंटेड साड़ी का पल्लू। यह भी उनकी दृष्टि के सामने तैर गया। नित्य ही उसे वे इसी वेश में विद्यालय

आते-जाते जो देखते थे।

उनसे रहा नहीं गया। उठकर ज्यों ही भीतर जाने के लिए लपके कि दरवाजे में चाय-नाश्ते सहित आती श्रीमती मंदाकिनी भट्टाचार्य से टकरा गए। खाली प्यालों की टकराहट की खन्न से एकदम चौंके, सँभले, बोले, “अरे, तुम आ रही थी? मैं तुम्हारे पास ही आ रहा था। चाय बुली तो नहीं? नाश्ता बिखरा तो नहीं?” यद्यपि वे सब देख रहे थे कि टकराहट बहुत हलकी थी, सब-कुछ ठीक-ठाक था, पर श्रीमती भट्टाचार्य अप्रसन्न एवं क्रुद्ध न हो जाए, अतः अनावश्यक किंतु मनोवैज्ञानिक तौर पर दो-तीन प्रश्न कर ही बैठे।

“लाओ मुझे दो।” श्रीमती से श्री भट्टाचार्य ने चाय की ट्रे ले ली। “बैठो, बैठो, देखो, हमारे विज्ञापन का उत्तर पास सटे दूसरे विज्ञापन ने दे दिया है। निवेदिता बड़ी भाग्यशालिनी है। यदि यह संबंध हो जाए तो उसकी किस्मत खुल जाए।” श्री भट्टाचार्य ने विज्ञापन पढ़ा।

श्रीमती भट्टाचार्य, जो बड़े ध्यान से सुन रही थी, बोली, “ठीक है, पर विज्ञापन यक्ष-मेघ तो नहीं, जो हमारी भावनाएँ चटर्जी की अलका तक ले जाए। आपको प्रयत्न करना होगा, वहाँ जाना होगा।”

“अरी बावली, यदि मैं प्रयत्न नहीं करता तो यह विज्ञापन क्यों देता? मैं जाऊँगा, जरूर जाऊँगा। हमारे व उनके बीच दूरी ही कितनी है? बस, इतनी ही तो जितनी कलकत्ता की चौड़ाई है। एक छोर पर वे, दूसरे पर हम। जैसे नदी के दो किनारे। बीच में धार की तरह बहती हुई ट्राम। लाओ, मेरा धुला धोती-कुर्ता निकाल दो। हाँ, निवेदिता का कोई अच्छा-सा फोटो-बोटो हो तो वह भी ला दो।” भट्टाचार्य ने प्रस्थान की तीव्र उमंग का प्रदर्शन करते हुए कहा।

धर्मेन्द्रनाथ चटर्जी के विवाह-संबंध तो कई आए पर माँ श्यामा चटर्जी के रूखे से अधिक लोभी स्वभाव के आगे एक भी नहीं टिक पाए। वह लड़की के संबंध में कम, पिता की हैसियत के संबंध में अधिक पूछती थी। कितना दे सकेंगे, यह तो देना ही होगा, परिवार के इन-इन लोगों के कपड़े, दूल्हे के लिए ऐसा सूट, ऐसी चेन, वैसी अँगूठी, वैसी घड़ी और न जाने क्या-क्या। ये उसकी फरमाइशों के सहज प्रश्न थे। जो आता था, फरमाइशों के अंबार से

घबराकर फिर दोबारा घर की ओर नहीं झाँकता था।

श्यामा चटर्जी के बोलने का फिर ढंग ही निराला था। बोलती क्या थी, नादिराना हुक्म ही देती थी। अपने बेटे धनेंद्र के गुण गाते अघाती नहीं थी, “मैंने अपने बेटे को एम० ए०, एल-एल० बी० करवाया है। अब वह एक बड़े उद्योग में बड़ा अधिकारी है। तुम्हारी बेटी राज करेगी राज।”

पत्नी की इस अहम्मन्यता के ही कारण विवाह-संबंध न आता देख, पिता विमलेंद्रनाथ चटर्जी को विज्ञापन देने के लिए विवश होना पड़ा था। विमलेंद्रनाथ स्वभाव से विनम्र थे, पर पैसा आता किसे अच्छा नहीं लगता। वह श्यामा के सामने कुछ कह पाने का साहस नहीं जुटा पाते थे। घर में श्यामा का बड़ा दबदबा था। वह जो कहे, सब उसी की हाँ में हाँ मिलाने लगते थे। विमलेंद्र कभी एकांत में श्यामा से कहते भी कि इतना लोभ अच्छा नहीं है, तो वह बरसाती बादल की तरह कड़ककर उन पर बरस पड़ती थी, “क्या मैंने इसीलिए धनु को नौ महीने पेट में रखा था? क्या हमने उसके पढ़ाने में इतना खर्चा इसीलिए किया है? इस समय ही नहीं माँगेगे तो फिर कब माँगेगे? फिर आज कौन नहीं माँग रहा? और किस लड़कीवाले को मुँहमाँगा नहीं देना पड़ रहा?”

श्यामा और विमलेंद्र चटर्जी का यह संवाद चल ही रहा था कि नवेंद्रनाथ भट्टाचार्य ने बरामदे में लगी कॉलबेल के बटन पर तर्जनी अड़ा दी। ट्रन, ट्रन, ट्रन की आवाज संवाद की शृंखला तोड़ बैठी। “देखो तो कौन है?” विमलेंद्र ने श्यामा से कहा। श्यामा मुँह फुलाए झुंझलाहट के साथ उठी, “ये घंटीवाले दो मिनट शांति से प्रेम की बात भी नहीं करने देते।” कहती हुई दरवाजा खोलकर बोली, “कहिए, कहाँ से पधारे हैं?”

“जी...जी...मेरा नाम नवेंद्रनाथ भट्टाचार्य है, मैं कलकत्ता में ही... ‘आज का भारत’ में आज ही विज्ञापन पढ़ा...तो...”

“अच्छा, अच्छा, विज्ञापनवाले हैं? बैठिए—अजी सुनो तो, आपके विज्ञापनवाले आए हैं।” कहती हुई उलटे पैरों लौट गई। विमलेंद्र बाबू नाक पर ऐनक, हाथ में छड़ी लिए बाहर आए।

“नमस्ते साहब, मैं नवेंद्रनाथ भट्टाचार्य। ‘आज का भारत’ में धनेंद्रनाथ चटर्जी का विवाह-विज्ञापन पढ़ा। आपने उसी विज्ञापन से सटा

निवेदिता का विज्ञापन पढ़ा होगा ? मैं निवेदिता का पिता हूँ। फोटो मैं लिए आया हूँ।”

भट्टाचार्य निवेदिता के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने हेतु उसका फोटो निकालकर दिखाते हैं।

“देखिए, यह रहा मेरी बिटिया निवेदिता का फोटो।”

विमलेंद्र प्रथम दृष्टिपात में ही मंत्र-मुग्ध हो गए। निवेदिता को जैसे उन्होंने स्वीकार कर लिया हो, मुँह में भर आए पानी को गटकते हुए बोले, “अरे धनेंद्र की माँ, अरे ओ धनेंद्र की माँ, कहाँ हो भई, देखो तो?”

श्यामा धनुष से छूटे तीर-सी टंकारती हुई आई, “क्या है, विज्ञापन क्या दे दिया लड़की वालों ने परेशान कर दिया।”

विमलेंद्र ने उसके आगे फोटो कर दिया।

“फोटो को क्या चाटूँ? कुछ है लेने-देने को? कितना दे सकेंगे? मेरा लड़का देखा नहीं? रूप का डला है। और कहीं नहीं मिलेगा।”

भट्टाचार्य श्यामा के तड़ातड़ प्रश्नों को सुनकर कुछ सकपकाए। वह पहले तो कुछ नहीं बोले पर जब वह धड़ाधड़ बोलती ही गई तो मंद स्वर में बोले, “बड़भागिन, बाई के भाग में होगा तो वह उसे मिलेगा ही। कहिए, लड़की पसंद आई या नहीं?”

“लड़की के साथ घर भी देखना पड़ता है। हम जाएँ तो हमारी खातिर तो हो सके। जिसके घर में चूहे ऊँचे होकर झाँके, उस घर की बहू लाकर क्या अपनी इज्जत मिट्टी में मिलानी है?”

“महाभागिन, इतना बड़ा तो नहीं हूँ, भगवान् ने जो कुछ दिया है, उसके आधार पर आपकी सेवा में कोई कसर नहीं उठा रखेंगे।”

“शहर के शहर में क्या सेवा करोगे? दोपहर को आए, रात को वापस। लड़के को सगाई में स्कूटर, सोने की चेन, अँगूठी, हमारे सारे परिवार के टेरीलीन के कपड़े, महिलाओं के लिए अमेरिकन साड़ियाँ। लड़की को दहेज में २० तोले सोना। पहले यह बात साफ हो जानी चाहिए, तभी यह रिश्ता हो सकेगा नहीं तो।” कहते-कहते श्यामा बिजली की तरह भीतर चली गई।

“ठहरो तो सही मालकिन, ऐसी भी क्या बात है? कहाँ हैं धनेंद्र बाबू?

मैं उनसे ही बात कर लेता हूँ। वह पढ़े-लिखे व्यक्ति...।”

हवा के झोंके की तरह अंदर से लौटती हुई बोली, “तो क्या मैं बेवकूफ हूँ ? वह तभी आएगा, जब इन बातों का निबटारा हो जाएगा।”

“होगा, होगा, बैठें तो सही, हमारी होनेवाली बियानजी।”

“लो, यह बैठ गई।” वह विमलेंद्र के पास खाली पड़ी कुर्सी पर धम्म के साथ बैठ गई।

“आपकी सब मनोकामनाएँ पूर्ण होगी। कौन बाप अपनी लड़की को खाली हाथ विदा करना चाहेगा। सब अपनी शक्ति से अधिक ही देते हैं। फिर निवेदिता तो अध्यापिका है, हर माह आपको आय-ही-आय होगी।”

“मैं ऐसी चिकनी-चुपड़ी बातों में नहीं आती। हमने उसे नौकरी कराई न कराई।” श्रीमती चटर्जी ने तपाक से उत्तर दिया।

“आप एक बार धनेंद्र बाबू को तो बुलाइए। उन्हें देख तो लूँ।” भट्टाचार्य ने कहा।

बीच में ही बोलते हुए विमलेन्द्रनाथ चटर्जी ने कहा, “हाँ...हाँ, ठीक है, एक बार धनु को दिखा दो। पसद आने के बाद ही सारी बातें हो सकेंगी।”

“हीरे का क्या देखना। धनु बड़ा सीधा है। यह उसे अपनी बातों में फँसा लेगे।”

“यदि धनेंद्र बाबू मेरा निवेदन स्वीकारते हैं, तो आपको आपत्ति क्या है ?”

“मुझे ही आपत्ति नहीं होगी तो फिर किसे होगी ? नौ महीने पेट में मैंने रखा है। कष्ट उठाया है। उसे पढ़ाने में मैंने खर्चा किया है। वह क्या समझे इस दुनियादारी को ?”

“सभी की यही स्थिति है। कौन कष्ट नहीं उठाता। लड़का हो या लड़की, अब तो दोनों शिक्षित होते हैं। खर्चें में अंतर रहता ही कब है।” भट्टाचार्य अपना वाक्य पूरा करें, इसी बीच धनेंद्र बाहर से आ गया।

विमलेंद्र उसे देखते ही बोले, “यह रहा धनेंद्र।”

भट्टाचार्य पहली नजर में ही मंत्र-मुग्ध हो गए। मन-ही-मन सोचने लगे, ‘लड़का निवेदिता के योग्य है। दोनों की बड़ी सुंदर जोड़ी रहेगी। हे भगवान्...।’

“आप ?” धनेंद्र ने पूछा ।

“आप नर्वेद्रनाथ भट्टाचार्य । निवेदिता के पिता । तुम्हारे साथ ही जिसका विज्ञापन है न ?” विमलेंद्र ने कहा ।

“अच्छा-अच्छा ! माँ, लड़की बहुत अच्छी है । मैं उसे उसके विद्यालय में अभी देखकर आ रहा हूँ । वह मुझे पसंद है । पिताजी, वह अच्छी लड़की ही नहीं, कलकत्ता की जानी-मानी समाज-सेविका, लेखिका तथा रंगकर्मी है ।” धनेंद्र द्वारा निवेदिता की इस तरह प्रशंसा करना श्रीमती चटर्जी के हृदय में तीर की तरह चुभ गया । वह बेचैन हो उठी । मार खाई नागिन-सी फुफकारकर कहने लगी, “भट्टाचार्य जी, लड़की इमे पसंद आ जाए तो क्या, हमें पसंद आना जरूरी है । हमारी पसंद के बिना...”

धनेंद्र बीच में ही बोल उठा, “मुझे यह रिश्ता मंजूर है । मैंने लड़की देख ली है ।”

विमलेंद्र को और चाहिए ही क्या था । आज पहली बार श्यामा चटर्जी को वह पराजित देख रहा था । विजयी की भाँति बोल उठा, “जब धनेंद्र को मंजूर है तो हम ना करनेवाले कौन हैं ?”

“तो कर लो तुम्ही ।” श्रीमती चटर्जी क्रोध में आगबबूला होकर चली गई ।

विमलेंद्र ने कहा, “भट्टाचार्य जी, रिश्ता पक्का । उसे तो हम मना लेगे ।”

भट्टाचार्य प्रसन्नता के झूले में झूलते हुए घर लौट आए । कुछ दिनों में ही घर पर शहनाइयाँ बज उठी । द्वार रंगीन विद्युत् लट्ठुओं से जगमगा उठा । वेदी के आगे वैदिक मंत्रोच्चारों के बीच सप्तपदी पूरी हुई । निवेदिता धनेंद्र की हुई । भट्टाचार्य दंपती ने जो कुछ बन सका, दिया । निवेदिता को क्या विदा किया, भट्टाचार्य दंपती ने मानो साक्षात् ममत्व को विदा किया हो । घर करुण रस में डूब गया । भट्टाचार्य दंपती बहुत रोए । उन्होंने निवेदिता को पुत्र की तरह पाला था । निवेदिता उस घर की गौरव थी ।

घर में दुलहन के पैर रखते ही श्यामा को जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया । बिजली की कड़कड़ाहट-सी वह तिलमिला उठी । धनेंद्र की असमय अप्रसन्नता तथा अप्रासंगिक क्रोध के भय से उसने वे सभी पारिवारिक औप-

चारिकताएँ तो निभाई, पर निवेदिता को नहीं स्वीकारने का भाव उन सब में बना रहा। निवेदिता को उसने कभी प्रसन्न आँखों से नहीं देखा। वह हर काम में गलती ढूँढ़ती और तत्काल मिल के भौंपू-सी गरजती, डाँटती तथा न जाने क्या-क्या बक जाती, जिसे निवेदिता सह न पाती। कलेजा क्षर-क्षर हो जाता।

प्रसंग हो या न हो, श्यामा की जबान पर ये शब्द तो खेलते ही रहते, “नहीं है तो ले आती न अपने पीहर से। तेरे बाप ने दिया ही क्या है? इतना तो गरीब से गरीब भी दे देता है।”

निवेदिता सब-कुछ सुनती पर अपने पीहर और अपने माता-पिता की बुराई जरा भी नहीं सुन पाती। उससे रहा नहीं जाता। क्रोध के घूँट-पर-घूँट पीती रहती। रात को धनेंद्र की बाँहों में मुँह छिपाकर बहुत रोती। धनेंद्र का प्रेम ही उसे अटूट डोरी में बाँधे था, अन्यथा उस घर में रहने के लिए उसके मन में कोई चाव न था।

श्यामा और निवेदिता की टकराहट दिनोदिन बढ़ती हुई संबंधों के टूटने की धमकियों तक पहुँच गई। छोटे-से-छोटे काम को लेकर घंटों दोनों में चख-चख होती। श्यामा ने निवेदिता को एक नौकरानी से अधिक कभी नहीं समझा। बड़े तड़के से लेकर देर रात सोते समय तक चक्की की तरह पिस-कर भी निवेदिता को मिलती दुत्कार, निकम्मी, कामचोर होने का प्रमाण-पत्र। विद्यालय से लौटने में जरा देर होने पर होटलों में घूमने, गुलछरें उड़ाने, पराए लोगों के पास बैठने, यहाँ तक कि चरित्रहीन होने तक का आरोप भी उस पर लगने लगा। श्यामा धनेंद्र के फैंकटरी से आते ही उसके कान भरती। नमक-मिर्च मिलाकर, जरा-सी बात को संदेहों के घेरे में घुमाकर कहती। धनेंद्र भी कहाँ तक सुनता। एक ओर माँ का वात्सल्य-जनित अधिकार, दूसरी ओर पत्नी का प्रेम-संबंध धनेंद्र जो। कभी बहुत शांत एवं व्यवस्थित जीवन का हामी था, बेचैनी एवं अशांति की आग में धधकने लगा। अब तो घर के काम-काज को लेकर धनेंद्र व निवेदिता के बीच भी कहा-सुनी हो जाती। परिणाम यही हुआ कि निवेदिता की नौकरी छुड़वा दी गई। कुछ समय बाहर शांति से बीत जाता था, अब वह भी कलह की भट्ठी में झुंक गया।

निवेदिता श्यामा की आँख की किरकिरी हो गई। दहेज की भूख रह-रह श्यामा के तन-मन को कुरेदती। वह धनेद्र के दूसरे विवाह की कल्पना तक पहुँच जाती। पर सोचती, 'निवेदिता के रहते यह सब कैसे संभव है? फिर धनेंद्र निवेदिता को कब छोड़नेवाला है। यदि मैं लड़-झगड़कर दोनों के बीच विरोध की दीवार खड़ी भी करा दूँ तो अलग रहने की स्थिति में वह धनेंद्र से भरण-पोषण माँगेगी। न्यायालय का सहारा लेगी।'।

तभी उसके मन में पापमयी वीभत्स कल्पना जन्मती, 'जैसे भी हो निवेदिता इस घर में नहीं रहेगी। घर में ही क्या संसार में ही नहीं रहनी चाहिए। इसके न रहने पर ही मेरा सपना पूरा होगा। तब मैं धनेद्र का दूसरा विवाह शांति से रचा पाऊँगी। चटर्जी को नहीं करने दूँगी। धनेद्र को नहीं बोलने दूँगी। कह दूँगी, जैसा मैं करूँगी वैसा होगा। धनु के खाली होते ही बड़े-बड़े सेठ शादी की फरमाइश लिए दौड़े आएँगे।' वह ऐसी कल्पनाएँ दिन-रात करने लगी।

एक दिन जब धनेंद्र कलकत्ता से बाहर गया हुआ था, चटर्जी खरीदारी करने बाजार गए हुए थे, बिना किसी बात पर रसोई में श्यामा निवेदिता पर उबल पड़ी। बात इतनी बढ़ गई कि श्यामा ने चोटी पकड़कर कहा, "डायन, हत्यारी, तू मर क्यों न गई। मैं तेरा मुँह भी नहीं देखना चाहती।"

इसी बीच निवेदिता के मुँह से निकल गया, "मार डालो न मुझे।"

श्यामा यही तो चाहती थी। बोली, "ले, तो ले।" और यह कहते हुए घासलेट का डब्बा उस पर उड़ेलकर कपड़ों में आग लगा दी।

निवेदिता धू-धू जलने लगी तो रसोई के किवाड़ लगा दिए। जाए तो कहाँ जाए। निवेदिता कराही, चिल्लाई, मुहल्लेवाले खिडकियों से झाँके, कुछ मकान तक आए, तब तक निवेदिता बेहोश होकर लुढ़क चुकी थी।

श्यामा ने चीख बंद होते ही रसोई के किवाड़ खोल दिए और निवेदिता के पास स्टोव उठाकर रख दिया और स्वयं रोने-चिल्लाने लगी, "दौड़ो रे, बचाओ रे, मेरी बहू स्टोव की लौ से झुलस गई।"

एक-दो पड़ोसी भीतर आ गए। उन्होंने देखा निवेदिता बेहोश है, लेकिन साँस चल रही है। जीवन की आशा में उसे उठाकर बाहर वाहन ढूँढ़ने लगे। तभी विमलेंद्र चटर्जी उतरे। बहू की हालत देखकर ताड़ गए, पर मौन

रहना ही उचित समझा। तत्काल बहू को अस्पताल ले गए। धनेंद्र को तार दिया गया, पर भट्टाचार्य को कहलवाना भूल गए।

अस्पताल के इमरजेंसी वार्ड में स्टैंड पर बिछी रबर पर बेहोश, झुलसी हुई निवेदिता को लिटाया गया। इमरजेसी डॉक्टर ने देखा। होश नहीं था। अतः पहले पुलिस को रिपोर्ट करना ठीक न समझकर पी० एम० एच० ओ० को फोन किया। पी० एम० एच० ओ० ने पुलिस को सूचित करने की आज्ञा दी। इमरजेंसी डॉक्टर ने निकट के पुलिस स्टेशन को सूचित कर फिर निवेदिता को देखा। दवाओं की एक लंबी सूची बनाकर विमलेंद्र चटर्जी को दी। बोटलें चढ़ गईं। विमलेंद्र चटर्जी इस घटना से अत्यधिक पीड़ित होकर भी श्यामा के सामने कुछ बोल न सके। उसकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते रहे।

श्यामा इमरजेसी वार्ड के बाहर से कभी दरवाजे तक आकर एक ही बात देखती, कही होश तो नहीं आ गया है। विमलेंद्र चटर्जी जब भीतर से बाहर आते तो एक ही बात पूछती, "होश आया?"

विमलेंद्र बाबू इतना ही कहते, "नहीं, कोई आशा नहीं लगती।"

इस उत्तर से श्यामा के मन की बाँछें खिल जाती, पर बाहर आँखों में आँसू भरकर कहती, "हाय राम..."

कई इंजेक्शन दिए गए। नर्स सेवा-शुश्रूषा में जुटी रही। उन्होंने सब प्रयत्न किए कि एक बार निवेदिता होश में आ जाए। डॉक्टरों के एक दल ने आकर फिर देखा। नई दवाओं का पर्चा दिया। चटर्जी ने दौड़कर दवाएँ ला दी। नर्सों ने फिर नई बोटलें चढ़ाई, नए इंजेक्शन दिए। परिणामतः निवेदिता ने एक बार आँखों के पलक झपका ही दिए। आँखें खुली, पर उसका सारा शरीर झुलस चुका था। साँस ही जैसे बाकी थी, उसी के सहारे ज्योंही आँखें खुली, वह कराहने लगी। कराहती-कराहती ही एकदम चिल्लाने लगी, "मुझे मत जलाओ माताजी, मुझे मत जलाओ, उन्हें आ जाने दो माताजी, उन्हें आ जाने दो।"

निवेदिता का इतना चिल्लाना था कि वार्ड का सारा वातावरण ही बदल गया। श्यामा ने ज्योंही यह कहते सुना, चुपचाप वहाँ से खिसक गई। निवेदिता इतना चिल्लाकर फिर बेहोश हो गई। तभी पुलिस आ गई। पुलिस ने निवेदिता का डाइंग डिक्लेरेशन लेना चाहा। निवेदिता को आवाजें

देकर होश में लाना चाहा पर वह होश में नहीं आई। डॉक्टरों ने देखा, पर निराशा ही अभिव्यक्त की। पुलिस वहाँ से हटे इसी बीच निवेदिता ने दम तोड़ दिया। पोस्टमार्टम के बाद निवेदिता की लाश विमलेंद्र चटर्जी को सौंप दी गई। चिता को धू-धू जलते देर नहीं लगी।

निवेदिता के अंतिम संस्कार तक नवेंद्रनाथ भट्टाचार्य को कोई सूचना नहीं दी गई। विमलेंद्र व श्यामा, जो प्रकृति में तीन व छः थे, इस प्रसंग को लेकर एक हो गए थे। श्मशान से लौटने के बाद भट्टाचार्य के पास सूचना भिजवाई गई। धनेंद्र दूसरे दिन पहुँचा। वह निवेदिता की इस दुर्घटना से बहुत दुखी हुआ। लेकिन वह अपने माता-पिता के प्रति संदेह कैसे प्रकट कर सकता था।

बारह दिन तक शोक मनाना तो दूर, श्यामा ने विमलेंद्रनाथ को एक पल घर में शांत नहीं बैठने दिया। विमलेंद्र ने बड़े-से-बड़े पुलिस अधिकारी से मिलने तथा उन्हें भारी-से-भारी घूस देकर संतुष्ट करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। घूस की शक्ति अपरिमित है। वह दिन को रात और रात को दिन कर सकती है। वही हुआ। पुलिस में आत्महत्या का केस रजिस्टर हुआ। निवेदिता की मृत्यु हो जाने से फाइनल रिपोर्ट लगाने की पुलिस अधीक्षक से स्वीकृति चाही गई।

लेकिन निवेदिता के पिता नवेंद्रनाथ भट्टाचार्य कैसे शांत बैठ सकते थे। वह क्रोध में आगबबूला होकर भी समझी से कुछ न कह सके। हाँ, पड़ोस से साक्ष्य एकत्र करने में उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी। दिन-रात एक कर दिए।

सभी पड़ोसी उनसे एकांत में कहते, “हमने निवेदिता को चीखते-रोते सुना है। वह चिल्ला रही थी, बचाओ, बचाओ।”

पड़ोसियों ने यहाँ तक कहा, “उस समय घर में केवल उसकी सास श्यामा चटर्जी थी।”

भट्टाचार्य ने संबंधित पुलिस से कहा, “यह आत्महत्या का नहीं, हत्या का केस है। मेरे पास प्रमाण हैं। सारा पड़ोस कह रहा है। उसकी सास श्यामा चटर्जी ने तेल छिड़ककर उसे जलाया है। सारा अस्पताल कह रहा है।”

पर पुलिस ने एक नहीं सुनी। केवल एक ही बात कही, “मृत्यु-समय का बयान यदि रिकॉर्ड हो जाता तो हम कुछ करते भी। कानून सुनी-सुनाई शहादत के आधार पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध मुकदमा दर्ज करने की इजाजत नहीं देता।”

भट्टाचार्य देहली पहुँचे। वहाँ बंगाल के एक केंद्रीय मंत्री से मिले। उन्हें घटना के सारे कारण व विवरण बताए और सी० बी० आई० से इस केस की जाँच करवाने की माँग की। भट्टाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा, “मेरी पुत्री के दहेज न लाने के कारण उसकी सास ने उसे जलाकर मारा है।” मंत्री महोदय ने संवेदना प्रकट करते हुए बस इतना ही कहा, “भई, आज-कल रोजाना ही दहेज का ऐसा एक-न-एक केस हो जाता है। कलकत्ता में यह दूसरा केस है। जाँच में आखिर क्या होता है?”

भट्टाचार्य का पीड़ा-दग्ध हृदय जल-भुनकर राख हो गया। वह क्रोध से अपने होंठ काटकर रह गए।

मन-ही-मन कहने लगे, ‘मंत्री महोदय, यह कलकत्ते के दूसरे दहेज-केस का प्रश्न नहीं है, मेरी पुत्री की हत्या का सवाल है।’

भट्टाचार्य प्रगतिशील महिला फेडरेशन के कार्यालय पहुँचे। फेडरेशन की अध्यक्ष ने मौखिक संवेदना ही नहीं प्रकट की अपितु भट्टाचार्य के देखते-देखते भरे गले से किंतु आवेश के साथ फेडरेशन की सहयोगिनी कार्यकर्त्रियों को फोन किया और एक विशाल जुलूस बनाकर विधानसभा भवन के सामने विराट प्रदर्शन करने का निश्चय किया।

दूसरे दिन उन्होंने ऐसा किया भी। महिलाएँ जुलूस बनाकर निकली। आगे-आगे एक महिला फेडरेशन का झंडा उठाए चल रही थी। उसके पीछे दो महिलाएँ एक बड़ा-सा पट्टा लिए थी जिस पर लिखा था—‘भारतीय प्रगतिशील महिला फेडरेशन, शाखा कलकत्ता’। उसके पीछे एक स्कूटर था जिस पर माइक कसा था। एक महिला खड़ी होकर नारे लगा रही थी। अध्यक्ष के पीछे चल रही महिलाएँ उसे दोहरा रही थीं या अपनी ओर से जोड़ रही थी। उनके नारे थे, ‘निवेदिता की हत्यारिन को गिरफ्तार करो... गिरफ्तार करो। दहेज-प्रथा बंद हो। जो हमसे टकराएगा—चूर-चूर हो जाएगा। हम नहीं मात्र नारी हैं—समय पड़े चिनगारी है।’ आदि-आदि।

विधानसभा भवन पर भारी प्रदर्शन हुआ। खूब नारे लगे। विरोध पक्ष के एक नेता के अतिरिक्त उनका ज्ञापन तक लेने कोई नहीं आया। नेता ने तालियों की गड़गड़ाहट के बीच घोषणा की, “मैं आपके इस ज्ञापन को अभी सदन में मुख्यमंत्री जी को दूंगा और आपकी समस्या के लिए अत तक लड़ूंगा।”

नारों के तुमुल घोष के साथ जुलूस विसर्जित हुआ। आते समय फेडरेशन की मंत्री ने भट्टाचार्य को जुलूस के खर्चे का बिल पकड़ा दिया। भट्टाचार्य आँखें फाड़कर उसे देखते रह गए।

भट्टाचार्य कुढ़ते हुए एक समाज-सुधार संस्था के कार्यालय में पहुँचे, जिसने दहेज-विरोधी मुहिम चलाने के लिए कलकत्ता में विशेष नाम कमा रखा था। संस्था के अध्यक्ष ने भट्टाचार्य को ढाढ़स बँधाया और प्रयास चर्चों के विरोध में हत्या का केस दर्ज करवाकर उसे गिरफ्तार करवाने का विश्वास दिलाते हुए कहा, “भट्टाचार्य जी, दहेज-प्रथा का विरोध करना हमारे जीवन का कार्यक्रम बन चुका है। हम इसे मिटाकर ही रहेंगे।”

दूसरे दिन समाज-सुधार संस्था के सैकड़ों कार्यकर्ता एक बड़े जुलूस के रूप में आई० जी० पुलिस के कार्यालय पर पहुँच गए। एक प्रतिनिधि मंडल उनसे मिला। पर उन्होंने साफ शब्दों में कहा, “मैं मजबूर हूँ, सुनी-सुनाई बातों के आधार पर किसी निर्दोष व्यक्ति के विरुद्ध कैसे झूठा मुकदमा बनवा दूँ। किसी ने उसे जलाते नहीं देखा। एक भी ऐसा गवाह नहीं है। पुलिस को मरहूम अपना डाइड डिक्लेरेशन दे देती तो पर्याप्त था पर वह यह भी न दे सकी। बेहोशी में बड़बड़ाने का मनोविज्ञान कानून की स्थूल सीमा में नहीं आता। मैं विवश हूँ।”

ईट से ईट बजा देने के भाषणों के साथ जुलूस वहाँ से लौट आया।

लेकिन भट्टाचार्य ने चैन की साँस नहीं ली। वह विरोध का साक्ष्य जुटाते रहे, संवेदना के दायरे बढ़ाते रहे, संबंधित व्यक्तियों से मिलते रहे।

एक दिन सभी ओर से निराश होकर श्री भट्टाचार्य जब तंगी में पीछे बैठे अकेले चर्चों के मकान के सामने से निकल रहे थे, क्या देखते हैं, शामि-याना लगा है, बाजे बज रहे हैं, जगमग रोशनी हो रही है। शामियाने में

एक ऊँचे मंच पर धनेंद्र किसी नवविवाहिता के साथ बैठा है। मालाओं से लदा है। फोटो पर फोटो खिंच रहे हैं। वही पड़ोसी पुरुष व महिलाएँ वहाँ हर्ष व आमोद में डूबे एकत्र हैं। भट्टाचार्य को समझते देर नहीं लगी। वह आशीर्वाद-समारोह हो रहा था। एक विचार मन को कुरेद गया। धनेंद्र ने दूसरा विवाह कर लिया। मुझसे कहा तक नहीं। एक तेज झटका लगा। भट्टाचार्य ताँगे में बैठे-बैठे बेहोश होकर लुढ़क गए। ताँगा चलता रहा।

आम के पेड़

सब कुछ बदला-बदला देखकर ज्योतिर्मय के उत्साह से बढ़ते कदम ठिठक जाते हैं। मुख पर खेल रही प्रसन्नता तिरोहित हो जाती है। सहसा हतप्रभ हो सोचता है, 'मैं अरविद के ही बँगले के सामने हूँ या कहीं और आ गया हूँ?' वह दोनों ओर के बँगलो की ओर घूरकर देखता है। दाएँ विवेक का बँगला, वही तो है। बाएँ आनंद का बँगला, वैसा ही है। तो यह अरविद का ही बँगला होना चाहिए। आज क्या हो गया है? स्थान कितनी जल्दी अपनी पहचान खो देता है। बदलते फैशन ने भी बंटाडार कर दिया है। चलूँ, घंटी तो बजाऊँ। कोई तो बाहर आएगा। पूछ लूँगा, यह अरविद का ही बँगला है न?

बाहरी द्वार का कपाट खोलकर ज्योतिर्मय ने बरांडे में लगी घंटी का बटन दबाया। एक भद्र महिला ने द्वार का एक कपाट खोलकर अपना मुँह बाहर निकाला। उसकी प्रश्न-भरी दृष्टि ज्योतिर्मय का स्पर्श करे, उससे पहले ही ज्योतिर्मय ने पूछ लिया, "अरविद बाबू यहीं रहते हैं?"

महिला ने 'नहीं' कहते हुए तपाक से किवाड़ जड़ दिए।

"बहनजी, सुनिए तो..." लेकिन भद्र महिला ने लौटकर कपाट नहीं खोले।

निराश ज्योतिर्मय उलटे पाँव बाहर निकला। फिर एक बार उसने ध्यानपूर्वक बँगले को देखा, 'हाँ, बँगला तो यही है। वही बरांडा, वही ऊपर बालकनी, लेकिन भीतर का आदमी... वह नहीं है। भाभी को मैं पहचानता हूँ। भाभी मुझे पहचानती हैं। वह बाहर आई होतीं तो लपककर कहती, 'कब आए ज्योतिर्मय, भैया। आओ... आओ। बाहर क्यों खड़े हो, चलो भीतर बैठो। चाय-वाय पियो।' लेकिन यहाँ तो... सब अपरिचित, सब तिरस्कारपूर्ण। अरविद कहाँ चला गया होगा। उसने मुझे कुछ लिखा भी

नहीं। चलूँ, विवेक मे चलकर पूछूँ तो सही, वह मुझे पहचानता है। अरविद ने ही उसमे मेरा एक बार परिचय करवाया था।’

भद्र महिला ने निप्रकाश कमरे की जाली में से अरविद को बाहर निकलते, फाटक लगाते देख ठंडी साँस ली। न जाने कहाँ से चला आया था। बिना ठीक पता लिए घुस आते है। पता पूछने के बहाने कितना समय नष्ट कर देते हैं। घर से ही पूरा पता लेकर नहीं चलते। अनावश्यक कोसते हुए भद्र महिला ने देखा, ज्योतिर्मय विवेक के बँगले में घुस गया है। देखे, उसे वहाँ क्या उत्तर मिलता है, इस प्रतीक्षा में वह भद्र महिला खिड़की से सट जाती है। उजाले से अँधेरे कमरे में कौन है, यह नहीं दिखता और अँधेरे कमरे मे प्रकाश में क्या हो रहा है, स्पष्ट दिखता है।

विवेक घर पर नहीं था, केवल उसकी पत्नी विद्या थी। जैसे ही उसने दरवाजा खोला, ज्योतिर्मय बोला, “बहनजी, माफ कीजिए, एक बात पूछना चाहता हूँ। इस पड़ोस के बँगले में पहले कभी काँमरेड अरविद रहा करते थे न?”

“वह तो कभी के मकान बेचकर चले गए।”

मकान बेचने की बात सुनते ही कभी ज्योतिर्मय के ललाट पर रेखाएँ उठती, तो कभी भौहों के बीच त्रिशूल बनता। वह अचकचा गया। छिपकलियाँ रेंग गई। क्या प्रश्न करे? क्यों चला गया, कहाँ चला गया, कब चला गया? फिर इसमें से पहले कौन-सा प्रश्न पूछे। पूछना भी चाहिए या नहीं? उलटे मुँह लौट पड़ूँ या रुकूँ, कुछ सोच नहीं पा रहा था। क्षण में ही उसके आनन पर अनेक प्रश्न उभरे और खो गए।

अरविद के पास ऐसी क्या कमी आ गई थी? उसे क्यों स्थानांतरण करना पडा? उसकी नौकरी सरकारी तो थी नहीं। फैक्टरी की नौकरी में कौन-सा स्थानांतरण? कही सेठ ने नई फैक्टरी खोली हो तो वहाँ स्टाफ ट्रांसफर कर दिया हो, यहाँ आकर उसका सोच रुका। यह संभव है।

“क्या कही किसी फैक्टरी में बदली हो गई?”

“जी नहीं।”

“तो फिर बँगला बेचने की क्या जरूरत आ पड़ी थी? बड़ा अच्छा बँगला था।”

“इस बारे में तो मुझे नहीं मालूम। उधरवाले बाबूजी से पूछ लो। वह घर पर ही होंगे।” विद्या ने इतना कहकर कपाट लगा लिए।

विद्या पराए आदमियों से अकेले लंबी वार्ता करने को अच्छा नहीं मानती थी। अपनी स्वतंत्रता को उसने अपने-आप कुंठित कर रखा था। शायद उसके पीछे उसकी अपनी दुर्बलता का भाव था या उसके आदर्श की विपुलता, यह तो वही जाने।

ज्योतिर्मय फिर असमंजस में पड़ गया। अरविद में मिलने, बड़े दिनों बाद, बड़ी ललक के साथ आया था। यहाँ न वह था, न उसका बँगला रहा था। उसने उसे क्यों नहीं लिखा? ऐसी छिपाने जैसी क्या बात थी? बड़े-बड़े आंदोलनों की अगुवाई करनेवाला, सदा छोटी-से-छोटी बात पत्र में लिखकर भिजवानेवाला, इतने बड़े परिवर्तन की इतनी बड़ी बात, उसे क्यों नहीं लिखी? विचारों का कीड़ा रेंगने लगा। उसे बँगले के बाहर आना था। वह आ गया। सोचने लगा, वह सुबह-सुबह ही क्यों नहीं आया जब आदमी घर पर मिल जाते हैं। बारह-साढ़े बारह बजे महिलाओं के अतिरिक्त कौन मिलनेवाला है। लेकिन यह महिला कह रही थी, उस पड़ोस के बँगलेवाले घर पर ही होंगे। वह इस समय घर पर ही रहते हैं। चलूँ उनसे भी मिल लूँ। यह तो तलाश करना ही पड़ेगा कि अरविद गया तो कहाँ गया है, क्यों गया है?

इसी ऊहापोह में पड़ा ज्योतिर्मय आनंद के बँगले पर पहुँच गया। बाहर ही लोहे के दरवाजे पर तख्ती लटकी हुई थी। उस पर अंग्रेजी में लिखा था : ‘कुत्ते से सावधान रहें’। उसे पढ़ते ही उसके लौह-कपाट खोलते हाथ झिझके। वह यह सोच कि किवाड़ खोले या नहीं, सोचने लगा, लोग-बाग अंग्रेजी में ही क्यों लिखते हैं? हिंदी में भी तो लिख सकते हैं। अब कितने अंग्रेज यहाँ रह गए। पहले भी अंग्रेज इनके घर पर कौन-से आते-जाते थे। और आजादी से पहले पढ़े-लिखे थे भी कितने? लेकिन अपने को अंग्रेजों के निकट समझने अथवा समझाने के भाव से लोग अपनी भाषा में नहीं, अंग्रेजी में लिखा करते हैं।

क्या आनंद पर अभी भी अंग्रेजी का भूत सवार है? आनंद बोलने में तो भारतीयता की बात करता है, लेकिन आचरण अंग्रेजी में करता है।

आजादी के इतने दिनों बाद भी लोगों की मानसिकता वैसी-की-वैसी बनी हुई है। यह विचार आया और चला गया। लौह-कपाट खोले या नहीं, यह भाव फिर प्रश्न बनकर खड़ा हो गया। काफी विचार के बाद उसने निर्णय लिया कि यही से आवाज लगानी चाहिए। मूल बँगले और अहाते की दीवार की दूरी कोई अधिक नहीं थी। यही १२-१५ फुट की होगी। उसने आवाज लगाई, “आनंद बाबू ! आनंद बाबू !”

कोई आदमी तो नहीं बोला था, एक अलसेशियन कुत्ता लाल जीभ बाहर निकाले, लंबी-लंबी साँसें लेता निकला। ज्योतिर्मय को देखते ही भौंकता हुआ अपने ही स्थान पर उछलने लगा। बराड़े की दीवार पर खड़ा हो गया। ज्योतिर्मय की घिग्घी बँध गई। भागे या रुके, वह यह सोच ही रहा था कि दरवाजा खुला और आनंद बाबू बाहर आए। ज्योतिर्मय को हिम्मत मिली।

ज्योतिर्मय पहली दृष्टि में ही, शायद दृष्टि पड़ी ही नहीं थी, बिन देखे ही पूछ बैठे, “कौन है ?” लेकिन दृष्टि मिलते ही पहचान गए। पहले उन्होंने कुत्ते को भौंकने से रोका, जो उनके बाहर आने पर, दीवार के नीचे, लोहे के फाटक के ठीक सामने खड़ा जोर से भौंकने लगा था। कुत्तों का यह स्वभाव है, मालिक के सामने ज्यादा भौंकते हैं। डरते भी हैं।

आनंद के मना करने पर कुत्ता भौंकने से रुका और ज्योतिर्मय किवाड़ खोल भीतर घुसा। आनंद ने हाथ मिलाया। वह ज्योतिर्मय को भीतर बरामदे तक ले गए।

“यहाँ बैठो।”

ज्योतिर्मय बिना किसी औपचारिकता के एक कुर्सी पर बैठ गया। आनंद भी बैठ गया और बोला, “पंडितजी, किधर से आ रहे हैं ? आपके मित्र कॉमरेड तो बँगला बेच-बाचकर कहीं चले गए।”

‘कही’ शब्द सुनते ही ज्योतिर्मय के कान खड़े हो गए। क्या आनंद बाबू को भी मालूम नहीं कि अरविंद कहाँ गया है ? इससे आगे प्रश्न करना चाहिए या नहीं ? कब गए, कहाँ गए, क्यों गए आदि प्रश्न तो आवश्यक हैं। लेकिन किसी तीसरे से इन प्रश्नों को करना चाहिए या नहीं ? शिष्टाचार

में मना तो नहीं लिखा है। पूछ ही बैठा, “आनंद बाबू, अरविद कहाँ गया होगा ?”

“पंडितजी, इन कॉमरेड लोगों का कोई ठिकाना नहीं। अरविद बातें तो रूस की करता था लेकिन गया गाँव ही होगा। खेती पर ही लौटा होगा। और कोई जरिया-वसीला तो यहाँ रहा नहीं था। फैंक्टरी मालिक ने इनकी आए दिन की हड़तालों से और तोड़-फोड़ से परेशान होकर पहले तो तालाबंदी की घोषणा की। लेकिन सरकार ने इनका पक्ष लेकर फैंक्टरी खुलवाई तो हड़ताल व तालाबंदी के दिनों के वेतन ने कुछ तो फैंक्टरी की कमर तोड़ दी, कुछ इन लोगो ने मशीन में ऐसा न जाने क्या कर दिया कि चली ही नहीं। मजदूर होकर मालिक ने फिर फैंक्टरी बंद कर दी। मुना है सेठ ने पहले मशीन बेची और अब मुना है कि उसने बिल्डिंग और खाली जमीन भी बेचकर अपना कारोबार यहाँ से उठा लिया है।”

इस विवरण से पं० ज्योतिर्मय को कुछ लेना-देना नहीं था।

“तो आपसे मिलकर नहीं गया ?”

“उसका तो मिलना दूर, उसकी धर्मपत्नी तक ने घर पर मिलना उचित नहीं समझा।”

“ऐसी क्या निराशा आ गई थी ? उसका मन सबसे क्यों उचट गया ?”

“जब आदमी सपने तो ऊँचे-ऊँचे सँजोता है लेकिन व्यावहारिक जीवन में जब उसके विपरीत भोगना पड़ता है, तब सारा परिवेश नीरस, सूखा, खँडहर-सा लगने लगता है। मन किसी और जगह जाने को व्याकुल हो जाता है। अपना-पराया तक तब कुछ नहीं दिखाई देता। यही अरविद के साथ शायद हुआ।”

“तब तो निश्चय ही यह कोई बड़ा उपन्यास है।”

“ऐसा तो कुछ नहीं। पहले तो तालाबंदी ने मार लिया, फिर उसका नंबर छंटनी में आ गया, उसने मार लिया। नौकरी में दोबारा लगते तो एरियर बगैरह मिलता, लेकिन दोबारा फैंक्टरी बंद होने पर सारा कुछ उलटा-पुलटा हो गया।”

“देखो साहब, आदमी के दिन बदलते हैं तो ऐसे बदलते हैं। कितना जमा-जमाया घर था। मुझे याद है इसके पिता ने कितनी मेहनत करके यह

बँगला बनाया था। बेचारे पेट आगे गाँठ लगाकर एक-एक पैसा बचाते थे और इस बँगले में लगा देते थे। बँगला बड़ी तबीयत से बनाया था। मुझे याद है, आम के बिरवे लाकर उन्होंने बड़े गड्ढे करके रोपे थे। खाद दी थी। पानी दिया था। हरे-हरे पेड़ मकान के बाहर बड़े अच्छे लगते थे। पूरे १२ पेड़ थे। एक की डाल दूसरे में फँसी जा रही थी। शाम हुई कि चिड़ियाँ चहकने लग जाती थी। सुबह-शाम पक्षियों की कलरव-ध्वनि से आँगन गूँज उठता था। गर्मी में आम्र तले कुर्सियाँ लगाकर बैठ करके थे। बाबूजी, क्या हुआ उन आमों का ? एक भी नहीं दिख रहा ?”

आनंद बाबू इस प्रश्न का उत्तर दे, इससे पहले ही भीतर से श्रीमती आनंद, जिन्हें पड़ोस सुभाषिणी नाम से जानता था, आई। वह ज्योतिर्मय से परिचित थी। ज्योतिर्मय की आवाज सुनकर ही वह बेझिझक बाहर आई थी। आते ही दोनों हथेलियाँ मिलाकर उन्होंने मुसकान बिखेरते हुए ज्योतिर्मय को नमस्कार किया। ज्योतिर्मय ने शिष्टाचार में कुर्सी से उठते हुए नमस्ते का उत्तर दिया।

“कब पधारे ?” खड़े-खड़े ही सुभाषिणी ने पूछा।

“आप बैठिए न ! अरविंद से मिलने चला आया था। बहुत समय हो गया था मिले।”

“उन्हें तो मकान बेचकर गए बहुत दिन हो गए।”

सुभाषिणी कुछ और कहें इसके पहले ही आनंद ने कहा, “इनके लिए कुछ खाने-पीने को तो लाओ।”

“नहीं, मैं खाना खाकर आया हूँ।... पानी पिला दे। खाने के बाद अभी तक पानी पिया भी नहीं है। खाने के एक घंटे बाद पानी पीने की मेरी आदत है।”

सुभाषिणी ट्रे में दो गिलास ठंडे जल के भरे धर ले आई। ज्योतिर्मय ने गिलास उठाकर गट्-गट् पानी पिया। आवाज तो नहीं हुई लेकिन गले की उभरी हड्डी के ऊपर-नीचे होने से ध्वनि का आभास होता था। आनंद ने दूसरा गिलास उठा लिया।

“जाइए नहीं। चाय ला रही हूँ। पानी चढ़ा दिया है।” सुभाषिणी यह कहकर चली गई।

“उस समय बँगला कितना अच्छा लगता था।” ज्योतिर्मय सुभाषिणी के जाते ही सहसा बोल उठे, “हरियाली की तरह, दूर से आते ही मन हरा हो उठता था। वे दिन भी क्या दिन थे। पं० वसुधाधर पांडे जब तक रहे, उन्होंने अच्छा-खासा बगीचा खड़ा कर दिया था। आम फल देने लगे थे।”

“हमने भी आम खाए हैं, पंडितजी। कितने बड़े-बड़े आम आते थे। चक्कू से गूदा निकालकर खाते थे। झक्क केसरिया रंग। शक्कर से मीठे आम। खाते ही मजा आ जाता था। बहुत ही अभागा निकला।” आनंद ने कहा।

“कहाँ गए इतने सारे आम?” ज्योतिर्मय ने पूछा।

“इन कम्युनिस्टों की एक ही थ्योरी है। शोषण का आरोप लगाते-लगाते उस तथाकथित शोषक के प्राण ही ले लो। पूरी तरह जीमकर मटियामेट कर दो। हो गई समाज-सेवा।” जाने कब से आनंद भरे बैठे थे, बिफर पड़े। सुभाषिणी चाय ले आई। चाय रखकर वह भी बैठ गई।

“आपने मेरे लिए बड़ा कष्ट किया।”

“इसमें कष्ट की क्या बात है पंडितजी, आप कब-कब आते हो। अरविद बाबू नहीं थे, इसलिए आ गए। वह होते तो...”

“बड़ी इच्छा से मिलने आया था। लेकिन वह तो सब समेट-समाट-कर...”

“हमें भी बड़ा दुःख हुआ। उनके पिताजी के समय से हमारा साथ था। दोनों ही जने एक ही मिट्टी के बने थे। सारे रिश्ते-नाते-संबंध तोड़कर ऐसे चले गए, मानो किसी से कोई सबंध था ही नहीं।”

आनंद बीच में ही बोले, “यह भी कम्युनिस्ट थ्योरी का एक अंग है।”

इस व्यंग्य पर ध्यान न देते हुए ज्योतिर्मय ने अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए पूछा, “कहाँ गया होगा।”

“कह रहे थे गाँव में उनकी कुछ जमीन है, वहाँ जाएँगे। वही गए होंगे।” आनंद ने उत्तर दिया।

“बँगले की अच्छी-खासी कीमत मिल गई होगी? आजकल मकानों की कीमत आसमान छू रही है।”

“हाँ, तीन लाख रुपए में उनका बँगला बिका है।”

“किस मनहूस ने खरीदा है ? खरीदते ही आम के पेड़ कटा दिए।”

“पेड़ उन्होंने नहीं कटवाए हैं। इनकी भी एक बड़ी कहानी है।”

“तो क्या पेड़ अरविंद के समय ही कट गए थे ?”

“नहीं कटते तो क्या करते। फैक्टरी जिन दिनों बंद थी, वेतन नहीं मिल रहा था, उन दिनों आमों को ठेके पर देना शुरू कर दिया। १२ पेड़ थे। अच्छी-खासी रकम आ जाती थी।”

“यह तो ठीक था। इतने आम अकेले खाता भी कैसे ? आप लोगों को भी कितने देता ?”

“आमों का ठेका देता तो ठीक था, लेकिन प्रोडक्शन से कहाँ पेट भरा। बंदनवार बनानेवाले भाइयों ने आकर उन्हें आमों के पत्तों को ठेके पर देने हेतु मना लिया। कहने लगे, ‘पत्ते वैसे ही खिर जाते हैं। हम आपको पत्तों की अच्छी-खासी कीमत दे देंगे। हमें तोड़ने दो।’ लोभ किसका गला नहीं कटाता। पत्तों का गला कट गया। पेड़ सूने हो गए। वसंत की प्रतीक्षा करते-करते सुनापन जीने लगे। ठूँठ खड़े हो गए। ठूँठ खड़े देखकर लकड़ी-वाले व्यापारियों ने आ घेरा। उन्होंने अच्छा-खासा भाव देकर मन जीत लिया। आर्थिक तंगी ने हरियाली की शोभा जीत ली। वसंत आने से पहले ही लकड़ियाँ राँ मेटेरियल की भाँति बिकने लगीं। आम कटने लगे। केवल जमीन में जुड़ा धड़ और उससे निकले मोटे-मोटे तने रह गए थे। वसंत में कुछ पत्ते निकले, आम फूटे भी; लेकिन फले नहीं। निरर्थक लगने लगे। मन ऊबने लगा। घृणा होने लगी। और एक दिन जाने क्या हुआ। मशीन की भाँति उन आमों को बेच दिया। ठेकेदार जड़ से काटकर ले गए। सफाई कर गए। जमीन की हरियाली खो गई। आम का उत्पादन खो गया।”

“आपने तो बड़ी दर्दनाक स्थिति सुनाई, आनंदजी।”

“दुःख तो हमें भी है लेकिन प्रश्न कम्युनिस्ट थ्योरी का है।”

ज्योतिर्मय प्रश्न को टालते हुए उठ खड़े हुए, “आपको आकर कष्ट दिया। पड़ोसियों से ही नहीं पूछता तो फिर किससे पूछता। चलूँ।” ज्योतिर्मय ने अहाते के किवाड़ खोले। किवाड़ की आवाज सुनते ही बरांडे की जाली पर गुलाबी जीभ निकाले हाँफते कुत्ते ने गरदन ऊँची की और भौकने लगा। ज्योतिर्मय तब तक किवाड़ बंद कर बाहर निकल चुके थे।

दाख

पं० बनवारीलाल शर्मा शहर में एक आस्तिक व्यक्ति के रूप में चर्चित है। उनकी यह आस्तिकता वंशानुगत है। उनके पिता पं० जानकीलाल शर्मा भी बड़े ईश्वर-भक्त थे। उन्होंने गाँव में भगवान् का एक बड़ा मंदिर बनवाया था। अपने घर के बाहर आँगन में बैठे-बैठे वह सीधे मंदिर के गर्भगृह में विराजमान भगवान् की मूर्ति के साक्षात् दर्शन कर सकते थे। ऐसा अभी भी मकान और मंदिर की स्थिति से प्रकट है।

यह सही है पं० जानकीलाल शर्मा गाँव में नहीं रहे, उनकी शिक्षा-दीक्षा भी गाँव में नहीं हुई। राज्य की सरकारी नौकरी भी वह गाँव के बाहर ही करते रहे। लेकिन संस्कार संस्कार ही है। वे महिलाओं के माध्यम से एक-दूसरे के पास जितनी तेजी से जाते हैं उतने पुरुषों से नहीं। और घर का प्रभाव गृहलक्ष्मी की आत्मीयता व व्यवस्था के कारण जितना जल्दी पुरुष पर पड़ता है उतना और किसी का नहीं। इस तरह पुरुष को आस्तिक बनाने में महिलाओं का योगदान अधिक होता है।

पं० जानकीलाल भी अपनी माँ से अपनी पत्नी को मिले धार्मिक व्यवहारों, घर की प्रचलित पूजा-पद्धतियों, व्रतों, पर्वों, त्योहारों को आस्तिक भाव से घर पर परंपरागत तरीके से मनाते रहने से, धर्म के जो अंकुर उनमें प्रसुप्त थे, प्रस्फुटित हो उठे। शहर में आकर भी वे मिटे नहीं। वह मंदिर में प्रति-दिन नहीं जा पाते थे तो उन्होंने घर में ही छोटा-सा मंदिर बना लिया। सुबह वह बड़ी श्रद्धा से मंदिर साफ करते। भगवान् की तसवीरों को जल से हलका स्नान कराते। चंदन-तिलक, अक्षत-फूल चढ़ाते। आरती करते। प्रसाद चढ़ाते। जब तक पं० जानकीलाल जीवित रहे वह अपनी इस आराधना को आजीवन बनाए रहे। उनके परलोक सिंघारने के पश्चात् पूजा का दायित्व उनके एकमात्र पुत्र पं० बनवारीलाल शर्मा पर आ गया।

पं० बनवारीलाल शर्मा में आस्तिकता का भाव उनके बचपन से ही था। पिता पं० जानकीलाल के मूर्ति-पूजा के संस्कार उनमें बालपन से ही घर कर गए थे। वैसे हिंदुओं में मूर्ति-पूजा की प्रथा एक सनातन प्रथा है। कैसा भी हिंदू हो वह प्रभु की आराधना विविध रूपों से करता आ रहा है। यहाँ तक कि पंचभूतों की आराधना में भी वह ईश्वर-तत्त्व ही देखता है।

आज तो स्थिति यह है कि हर मंदिर और हर मंदिर की मूर्ति के प्रति उसमें श्रद्धा है। कभी भेद रहे होंगे। लड़े भी होंगे, लेकिन आज तो स्थिति यह है कि मूर्ति चाहे शंकर की हो चाहे विष्णु की, गणेश की हो चाहे सूर्य की, राम की हो चाहे कृष्ण की, हनुमान की हो चाहे भैरव की, दुर्गा की हो चाहे सरस्वती की, सभी के प्रति हिंदू की समान श्रद्धा तथा समान भक्ति है। वह यह बात सोचने की भी आवश्यकता नहीं समझता कि ब्राह्मणों ने किस देवता की पहले आराधना की? ब्रह्मा देवता के रूप में मंदिरों में अधिक क्यों नहीं प्रतिष्ठित हुए? कई देवताओं की मूर्तियाँ कई-कई मुखों, कई-कई हाथोंवाली होती हैं। उसने कभी नहीं पूछा, ऐसा क्यों है? उसके लिए समान रूप से सब आराध्य हैं।

समन्वय का यह भाव कब और किस प्रभाववश आया, यह सोचने का उसके पास समय नहीं है। उसने यह खोज शोधकर्ताओं के लिए छोड़ दी है। वह सबमें एक उसी अंतर्दामी परमात्मा की छवि देखता है और दास्यभाव से उसकी भक्ति-आराधना करता है।

पं० बनवारीलाल में भी प्रारंभ से यही भाव है। उनके मंदिर में शंकर, गणेश, राम, कृष्ण, हनुमान, विष्णु, दुर्गा, सरस्वती ही नहीं, पंचपल्लवी विल्व-पत्र भी रखा है। वह उसकी भी पूजा करते हैं। बाद में देवता रूप में प्रतिष्ठित हुए श्री कल्याणरायजी, स्वामी रामचरणजी, संतोषी माता के भी चित्र उन्होंने उसमें रख रखे हैं।

वह कहा करते हैं, “मेरे मंदिर में सभी धर्मों के आराध्य देवों के, जैसे जैन धर्म के भगवान् महावीर स्वामी का चित्र, सिक्ख धर्म के गुरु नानक का चित्र, बौद्ध धर्म के गौतम बुद्ध का चित्र भी मंदिर में होना चाहिए। “मे तलाश में हूँ डेढ़-डेढ़ फुट के आकार के चित्र कहीं से मिलें तो मैं अवश्य उन्हें मंदिर में रखूँगा।”

पंडितजी का सपना कब साकार होगा यह तो नहीं कहा जा सकता । ऐसा सोचते उन्हें २० वर्ष से अधिक हो गए हैं । न कहीं से उन्हें चित्र मिने न उन्होंने अपने मंदिर में रखे ।

पंडितजी प्रारंभ से ही किशमिश अर्थात् छोटे दाखों का प्रसाद सभी तसवीरों के आगे चढ़ाते रहे हैं । वह यह अवश्य जानते हैं कि भगवान् दाख नहीं खाते, पूजा पूरी होने पर वे दाख अंततः बच्चे ही खाते हैं । फिर भी हर हिंदू का विश्वास है कि उसका भगवान् दाख ही नहीं खाता, नहाता भी है, चंदन भी लगाता है और माला भी पहनता है । हिंदू की यही विचित्रता है ।

हिंदू का यह भाव उसके अवतारवाद अथवा ईश्वर प्राकट्य का प्रभाव है । सर्वत्र व्याप्त निराकार निर्गुण सच्चिदानंद प्रभु आकार भी ग्रहण करता है । अवतार भी लेता है और आराधना पर प्रकट होकर भक्तों का कष्ट भी निवारण करता है । यह जानते हुए भी कि पत्थर जड़ है, उसमें भावना से ईश्वर की सृष्टि करता है । प्राण-प्रतिष्ठा करता है और आकार को प्रभु का प्रतीक रूप मानकर उसी भाव से उसकी आराधना करता है ।

हिंदू मूर्ति-पूजक ही हो, इतना ही नहीं, वह अग्नि-पूजक भी है, वह वृक्षों और पशुओं का भी पूज्य भाव से अर्चन-वंदन करता है । वह पूरा चारुवाक होकर भी हिंदू है और मूर्ति-पूजक होकर भी हिंदू है । पंडित बनवारीलाल चारुवाक नहीं हैं । नास्तिकता को वह कभी अच्छा नहीं मानते । वह कहते हैं कि हिंदू होने के लिए उसका आस्तिक होना आवश्यक है । वह संस्कृतिवादी हैं और हिंदू सांस्कृतिक परंपरा में आस्तिकता उसकी अनिवार्यता है । चारुवाक हिंदू अवश्य था, हिंदुओं ने उसे हिंदू संस्कृति का अंग नहीं माना । वह मात्र एक हिंदू नागरिक था ।

पं० बनवारीलाल जैसे ही आरती पूरी करते एक दाख हनुमानजी के आगे से उठाकर स्वयं खाते और शंख में प्रभु-प्रदान के बाद बचे जल को हथेली में लेकर आचमनस्वरूप स्वयं पी जाते । बाकी दाखों को वह बच्चों के लिए छोड़ देते ।

पं० बनवारीलाल का भरा-पूरा परिवार है । स्वयं के लड़के हैं । लड़कियों के लड़के-लड़कियाँ हो गए हैं । वे आते-जाते रहते हैं । वह जैसे ही स्नानघर से निकलकर दर्पण के सामने आते हैं, बच्चों की भीड़ उन्हें घेर

लेती है।

“अब पूजा करेंगे न?” सबसे छोटी लड़की पूछती है।

वनवारीलाल दर्पण के सामने वालों में तेल लगाते हुए कहते हैं, “हाँ, अभी पूजा करेंगे।”

तभी बड़ा लड़का बोल उठता, “अभी तो फूल ही नहीं लाए। बाबूजी, फूल लाएँगे न?”

वनवारीलाल वालों में कंधी करते हुए कहते हैं, “हाँ, अभी लाएँगे।”

तभी तीसरी बच्ची बोल उठती, “हम भी फूल तोड़ने चलेंगे न?”

वनवारीलाल केश-श्रृंगार से निबटकर तेल की शीशी व कंधे को यथास्थान जमाते हुए कहते हैं, “हाँ, चलना।”

“लो बाबूजी, फूलों को टोकरी।” चौथा कहता। वनवारीलाल फूलों की टोकरी लेकर बाहर बगीचे में चले जाते। बच्चों की भीड़ उनका पीछा करती हुई चली जाती।

सबसे छोटी बच्ची मचलती हुई कहती, “हम भी फूल तोड़ेंगे। हमें ऊपर चढ़ाओ।”

अहाते की डोली पर खड़े होकर फूल तोड़ना बच्चों के लिए संभव होने से वनवारीलाल उसे उठाकर डोली पर खड़ा कर देते। वह फूल तोड़े उससे पहले बड़ा लड़का अंजली में फूल भरकर लाते हुए कहता, “लो बाबूजी।”

वनवारीलाल के लड़कों ने उन्हें बाबूजी कहना प्रारंभ किया तो लड़कियों के लड़के भी ‘बाबूजी’ ही कहते।

वनवारीलाल फूल लेकर टोकरी में डाल लेते।

वह छोटी बच्ची को चिढ़ाते हुए कहता, “जो जितने फूल तोड़ेगा, उसे उतने ही दाख मिलेंगे। क्यों न, बाबूजी?”

“नहीं, मुझे अधिक मिलेंगे।” अहाते पर चढ़ी बच्ची कहती, “क्यों न, बाबूजी! मैं सबसे छोटी जो हूँ।”

“हाँ...हाँ, उतर।” वनवारीलाल उसे हाथ पकड़कर नीचे उतार देते। पूजा के योग्य फूल होते ही वनवारीलाल मंदिर के सामने बैठकर पूजा की तैयारी करते। मंदिर में सफाई करते। दीपक में घी व बत्ती रखते। दीपक के साथ ही अगरबत्ती जलाते। चंदन घोलते। चावल की व्यवस्था करते।

तब तक बच्चों का एक ही काम रहता। छोटे बच्चों को उठाकर बड़े बच्चों का बैठ जाना। छोटे बच्चों का झगड़ना। झगड़ने पर नहीं मानते तो रोने लगना। बनवारीलाल मन-ही-मन कुढ़ते तो बहुत, पर विवेकशील हैं। जानते हैं, बच्चों के लिए ध्यान की तन्मयता या एकाग्रता का अर्थ क्या है। उन्हें प्रसाद से मतलब है। इसलिए कुढ़न को पी जाते। पूजा पूरी होते ही बच्चों को लगता कि अब आरती होगी। फिर उनमें उठक-पठक प्रारंभ हो जाती। छोटे धक्का-मुक्की करके फिर मंदिर के आगे आ जाते और पिटने के डर में बड़े थोड़े पीछे सरक जाते हैं।

पं० बनवारीलाल पूजा-ध्यान से निवृत्तकर आरती करते। पहले दीप-आरती, फिर गंध-आरती और फिर जल-आरती। दीप-आरती के साथ-साथ शब्द-आरती चलती रहती। पृथ्वी तत्त्व पर आसीन देवता की इस तरह पंच महाभूत आरती पं० बनवारीलाल समाप्त नहीं करे, उससे पहले बच्चों में दाख उठाने की होड़ लग जाती।

पीछे रह जाती सबसे छोटी बच्ची। वह रोती हुई अपनी माँ के पास जाती, “मुन्ना ने मुझे पीछे धकेल दिया। मुझे दाख नहीं लेने दिया।”

माँ अर्थात् बनवारीलाल की लड़की उसे लिए पूजाघर में आती। पं० बनवारीलाल सकोच से भर जाते। आरती के बाद दाख उनके दोनों ओर खड़े बच्चों में से दो सबसे अधिक शक्तिवाले उठा लेते। अपने दाखों को दोनों पहलवान गिनते। “मेरे आठ दाख आए।” दूसरा कहता, “मेरे दस दाख आए। देखो।”

जैसे ही वह दिखाता आठ दाखवाला उसकी हथेली में से अपनी मुट्ठी भर लेता। अपने बच्चे दाखों की चिंता न करते हुए, वह शेष बच्चे दाखों को फेंककर उस पर झपट पड़ता और मुक्कामारी कर बैठता। दोनों रोने लगते। दाख जमीन पर बिखर जाते। शेष खड़े बच्चे-बच्ची उन्हें बीनने लगते। जब तक पं० बनवारीलाल या बच्चों की माँ अर्थात् उनकी लड़की बच्चों को छुड़ाए इससे पहले दाख मुँह में चले जाते। या कुछ लेकर बाहर भाग जाते।

पं० बनवारीलाल के सामने सत्याग्रह प्रारंभ हो जाता। झगड़नेवालों में एक अप्रसन्न होकर रुठ जाता। पलंग पर जाकर पड़ जाता। दूसरा कहता, “मुझे दाख दो।”

पं० बनवारीलाल के सामने एक ओर खड़ी अपनी लड़की की शर्म है, कही यह न अनुभव कर ले कि बाबूजी बड़े कंजूस हैं। दो-चार दाख शीशी में से निकालकर बच्चों को देकर ठंडा कर देते। लेकिन पलंग पर जो रूठकर पड़ा है, उसे मनाने के लिए पं० बनवारीलाल उसकी माँ अर्थात् अपनी लड़की से कहते, “उसे भी उठा, वह कब तक रूठा पड़ा रहेगा।”

माँ मनाती पर वह नहीं मानता। न उठता। माँ कहती, “चल तुझे और दाख दिलवा दूँ।” लेकिन मन में संकोच करती कि यदि इस तरह दिलवाए, तो सारे ही दाख समाप्त हो जाएँगे। फिर पूजा में क्या चढ़ेंगे! एक दिन तो है नहीं, जो दे दे। लेकिन वह भी क्या करे! बिना इस लोभ के रूठा बच्चा पलंग छोड़नेवाला नहीं। पं० बनवारीलाल यह सोचकर कि शीशी में से फिर दाख देने पड़ेंगे, चुपचाप दूसरे काम में लग जाते या बाहर निकल जाते।

माँ कहे तो अब किससे कहे। वह पिताजी की संपत्ति पर अधिकार जताते हुए शीशी में से दाख बच्चों को दे देती। वह प्रसन्न मुँह जैसे ही दरवाजे के बाहर होता, कोनों में छिप-छिपकर माँ के द्वारा दिए जा रहे दाखों को देखते दूसरे बच्चों के मन में चोरी का भाव जगता। पं० बनवारीलाल ने दाख की वचत में अपने को बाहर किया, माँ ने बच्चों को दो-चार दाख देकर मंतुष्ट किया, लेकिन बाकी ने पीछे से जाकर सबकी दृष्टि से अपने को बचाकर शीशी में से दाख लिए और बाँट खाए और इधर-उधर जा छिपे।

दूसरे दिन उसी तरह पं० बनवारीलाल पूजा के लिए बैठे। जैसे ही उन्होंने दाख चढ़ाने के लिए शीशी उठाई, उन्हें हलकी-हलकी लगती। काँच की शीशी को ऊँचा करके जैसे ही देखते, क्रोध का पारा चढ़ जाता। वह बच्चों पर बरस पड़ते। माताएँ चुपचाप आकर बच्चों को ले जाती। माताएँ अर्थात् अपनी पुत्रियों को देख संकोच में पड़े इतना ही कहते, “बच्चे बड़े शैतान होते हैं। एक तो पूजा नहीं करने देते। ध्यान तो लगता ही नहीं। फिर पूजा के दाख उठाएँ यह तो ठीक, लेकिन पीछे से चोरी से दाख शीशी में से निकालकर खा जाते हैं।”

आज पूजा निबटाकर जैसे ही बच्चे बाहर गए, उन्होंने दाख की शीशी को अटैचियों के पीछे छिपा दिया। पर छिपाने से क्या होता है? बच्चों से

छिप भी जाए, पर रूठे बच्चों की माँ उसे बाहर निकाल देती। पं० बनवारी-लाल मन-ही-मन जल-भुनकर तय कर लेते हैं कि जब तक बच्चे रहेंगे, वह दाख का भोग नहीं लगाएँगे। दाख जितने शीशी में थे खत्म हो गए और वह भोग के लिए मुनमुने ले आए।

“बाबूजी, दाख नहीं चढ़ाओगे?” छोटी बच्ची कंधे पर हाथ धर मुँह के पास मुँह लाकर पूछती।

पं० बनवारीलाल क्या उत्तर दें? “चढ़ाएँगे। दाख खत्म हो गए हैं न। कल बाजार से लाएँगे तब चढ़ाएँगे।”

उससे बड़ा बच्चा कहता, “आज ही लाना दाख। हम दाख खाएँगे।” छोटी बच्ची के कथन पर जगी करुणा की नदी, बच्चे की आदेशात्मक गर्मी से सूख जाती। परिणामतः जब तक बच्चे रहेंगे पं० बनवारीलाल दाख न लाने का दृढ़ निश्चय कर लेते।

दूसरे दिन दाख की जगह मुनमुने चढ़े देखकर फिर छोटी बच्ची ने कंधे पर हाथ धरकर मुँह के पास मुँह लाकर पूछा, “दाख नहीं लाए बाबूजी?” उस निरीह भोली बच्ची के स्नेहिल शब्द सुन सहसा पं० बनवारीलाल का मन पसीज गया। ममत्व जाग उठा। पूजा से निबटते ही, मुनमुनों के होते, वह बाजार से दाख खरीद लाए। उन्हें लगा, ममत्व आस्तिकता से भी अधिक प्रबल संवेग है।

आधा पराँठा

तब तक प्रफुल्ल उस आधे पराँठे को खा चुका था। यह घटना प्रफुल्ल के गाँव विक्रमपुर में ही घटी थी। प्रफुल्ल की यहाँ काश्त की भूमि है। उसे सँभालने वह महीने-पंद्रह दिन में विक्रमपुर आता रहता है। यहाँ उसका पत्थरों से बना एक बड़ा-सा खपरैली मकान है। जब भी वह यहाँ आता है, इसी में रहता है। वैसे प्रफुल्ल का पुश्तैनी मकान भी यहाँ है, लेकिन भाइयों की आपसी टकराहट के कारण प्रफुल्ल के पिता ने विभाजन में अपने हिस्से में आए नोहरे को रहने लायक बनाकर उसमें रहना प्रारंभ कर दिया था। तब से उसका परिवार इसी में रहता आ रहा है।

माता-पिता के दिवंगत हो जाने के बाद बच्चों की पढ़ाई के लिए प्रफुल्ल ने शहर में अलग से मकान खरीद लिया है। उसकी पत्नी भी बच्चों के साथ शहर में ही रहती है। गाँव में कोई नहीं रहता। प्रफुल्ल ने वहाँ एक दरोगा रख छोड़ा है। वह जब भी गाँव आता है तो वह ठहरने, सोने, बैठने, खाने-पीने की पूरी व्यवस्था कर देता है। बाकी दिनों में वह मकान की रख-वाली करता है। रात को सो जाता है। बरसात बाद गारा-गोबर करा देता है।

प्रफुल्ल जब भी गाँव आता है एक रात से अधिक नहीं ठहरता। मुबह का भोजन करके आता है और शाम के लिए साथ ले आता है। उसका कारण भी है। उसने पिता के समय से चला आ रहा पुश्तैनी मकान बेच दिया है। बैल-गाड़ी, हल-कूली बेच दिए हैं। जमीनों को जुताने पर अब गाँव में उसके लिए ऋण की वसूली से अधिक और कोई काम नहीं रहता। गाँव के हालचाल जान जाता है और चला जाता है।

प्रफुल्ल की पत्नी माधुरी शहर में रहकर भी ग्रामीण जैसी ही है। उसने परंपराओं को दृढ़ता से अपनी मुट्ठी में जकड़ रखा है। वह पूरी तरह से

भारतीय महिला है। पश्चिमी हवा उसे नहीं लगी है। सुबह उठकर पक्षियों को चुगगा डालने जाती है। स्नान आदि से निपटकर शिव-प्रतिमा पर जल चढ़ाने जाती है। घर पर देवी-देवताओं की पूजा करती है। अहाते में लगी तुलसी पर जल चढ़ाती है। सूर्य को अर्घ्य देती है। घर का सारा काम करती है। वैसे उसने बरतन माँजनेवाली, झाड़ू-पोछा करनेवाली, कपड़े धोनेवाली अलग रख रखी है, तब भी अपने कपड़े धोबिन से नहीं धुलवाती। कारण ? धोनेवाली सारे कपड़ों को बाल्टी के उसी गँदले पानी में झकोरती है। उसका विश्वास है कि एक कपड़े का मैल दूसरे में घुलता रहता है। कपड़ा वास्तविक दृष्टि से नहीं धुलता।

बुहारावाली का बुहारा उसे कभी पसंद आता नहीं। जब तक नौकरानी आए, वह मकान का आधा बुहारा लगा लेती है। प्रफुल्ल उसे मना करे तो यही उत्तर देती है, नौकरानी पर बुहारा छोड़ देती तो घर कचरे से भरा रहता। नौकरानी ऊपर-ऊपर का बुहारा निकालती है। किसी चीज को झाड़ती-फटकारती नहीं। मैल तो सारे घर का उसी में भरा रहता है। गाँव में भी तब भी इतना ही काम करती थी। शहर में आने पर भी उसका काम उतना ही है। यहाँ उसकी प्राचीन प्रथाएँ यथावत् चालू हैं।

न जाने कहाँ से प्रफुल्ल की श्रीमती माधुरी को यह मंत्र मिल गया कि जब भी किसी के साथ खाना बाँधा जाए तब उसके साथ आधी-परधी रोटी, पूड़ी, पराँठा जो भी हो अवश्य बाँधा जाए। शायद अपने पीहर में वह ऐसा देखती आई थी। शायद अपनी माँ से उसे यह परंपरा मिली थी। अब अकेली रहने के बाद भी उसका यह स्वभाव नहीं छूटा है। जब भी प्रफुल्ल के गाँव जाने पर उसके लिए पराँठे बाँधती, वह आधा पराँठा बाँधना नहीं भूलती।

आधा पराँठा बँधता प्रफुल्ल बहुत समय से देखता आ रहा था, पर वह उसके कारणों पर नहीं जाता था। आज वह अकेला ही आया हुआ है। गाँव के बालाजी के दर्शन कर आया है। जब भी वह गाँव आता है, शाम के समय बालाजी के दर्शन करने अवश्य जाता है। बालाजी का उसके गाँव में बड़ा प्रसिद्ध मंदिर है। मंदिर का निर्माण कब और किसने करवाया यह इतिहास उपलब्ध नहीं है, पर उसे याद है शनिवार और मंगलवार को उसके गाँव के ही नहीं, आसपास के गाँवों के लोग भी आकर यहाँ पूजन-अर्चना

करते हैं। वहीं रसोई बनाते, भोग लगाते हैं। बालाजी पर भोजन बनाने की बड़ी अच्छी व्यवस्था पहले से ही है।

प्रफुल्ल दर्शन करने दो कारणों से जाता है, एक तो मन की धार्मिक भावना की संतुष्टि और दूसरे रास्ते में पड़नेवाले घरों का जो कोई मिल जाए उससे कुशल-क्षेम पूछ लेना। आते-जाते वह किसी के यहाँ कुछ समय बैठ भी जाता है। दर्शन का दर्शन और मिलने का मिलना। प्रफुल्ल दर्शन कर घर लौट आया है, अब उसके सामने भोजन करने का ही काम शेष है। दरोगा पलंग पर विस्तर लगाकर स्वयं भी भोजन कर लेने घर चला गया है।

जैसे ही दरोगा गया प्रफुल्ल ने भोजन निकाला और खाने लगा। माधुरी ने उसके साथ जो परांठे बाँधे थे उनमें से वह एक-एक कर ले रहा था। भोजन भी कर रहा था और विचारों में खो भी रहा था। आखिरी परांठे को जब उसने उठाया तो उसे लगा अन्य परांठों से यह परांठा मोटा और वजनी है। इसका कारण था वह दोहरा मुड़ा हुआ था। उसने खोलकर देखा तो उसमें आधा परांठा रखा था। वह खोलते समय खिसककर थाली में गिरा। गिरने के साथ ही उसके सोच का तारतम्य टूटकर उस आधे परांठे पर आ टिका। क्यों माधुरी हर बार आधा परांठा रख देती है। पहले तो विचार आया कि वह बड़ी आर्थोडोक्स है। न जाने कौन-सा शकुन मनाती है। इससे क्या होता है? बड़ी ही पुरातनपंथी है। उसे उसकी इस पुरातनता पर तरस ही आया।

दूसरे ही क्षण उसने सोचा, निश्चय ही इसके पीछे बुजुर्गों का कोई महत्वपूर्ण उद्देश्य रहा होगा। बहुत वर्षों पहले उसकी पत्नी द्वारा उसके पिता के संबंध में कही बात प्रफुल्ल के मस्तिष्क में न जाने कहाँ से कौंधी कि पिताजी जब भी भोजन करते थाली में भले ही एक ग्रास ही छोड़ें, रोटी अवश्य छोड़ते थे। प्रफुल्ल ने तब उससे पूछा था, ऐसा वे क्यों करते थे? थाली में जूठी रोटी छोड़ने के पीछे उनका क्या अभिप्राय था? तब माधुरी ने कहा था कि हम मनुष्य ही नहीं कुत्ते-बिल्ली भी आशा किए रहते हैं। यह याद आते ही उसे इस आधी रोटी रखने का रहस्य भी समझ भी आ गया।

प्रफुल्ल सोचने लगा पुराने जमाने में जब जंगल बहुत अधिक होते थे,

आने-जाने के मार्ग नहीं थे, रोशनी नहीं थी, तब आदमी जब भी निकट की यात्रा करता था पैदल या बैलगाड़ी में, यहाँ तक कि घोड़े या ऊँट पर, अपने साथ सुरक्षा की दृष्टि से कुत्ते को अवश्य साथ ले जाता था। कुत्ते को कोई प्रेम से नहीं ले जाता। उसके पीछे सुरक्षा का भाव होता है। और कोई साथ नहीं तो कुत्ता तो साथ है। भूँकेगा तो सही। काटने का डर, आक्रामक के मन में रहता ही है। आजकल भी प्रातःकाल घूमनेवाले अपने साथ चैन पकड़े कुत्तों को साथ ले जाते दिखते हैं। यह भी उसी भय के कारण है।

प्रफुल्ल ने सोचा आधी रोटी कुत्ते के लिए ही रखी जाती थी ताकि वह भी साथ-साथ खा ले। इस विचार के आते ही प्रफुल्ल के मस्तिष्क में आया कि वह उस आधे पराँठे को नहीं खाएगा और कुत्ते को डालेगा। वह सोचने लगा कुत्ता न जाने कहाँ मिलेगा? रात भी अँधेरी है। छोटी लालटेन को लेकर बाहर सर्दी में कहाँ खोजेगा। यद्यपि प्रफुल्ल के लिए जितने पराँठे रखे थे उनसे उसका पेट भर गया था। आधा पराँठा अतिरिक्त ही लग रहा था। वह चाहता भी नहीं था कि उसे खाए। उसके मन में आया कि इसे रख दे। सुबह किसी कुत्ते को डाल देगा। वह दरवाजे की ओर पीठ करके बैठा था। चबूतरे पर सामने छोटी लालटेन रखी थी। पानी का गिलास रखा था। नैतिकता उसके सामने प्रश्न बनकर खड़ी हो गई। जब कुत्ते का यह भाग है तो उसे इसे खाना भी नहीं चाहिए। खाए या न खाए उसके मस्तिष्क में यह द्वंद्व चलने लगा। अन्त में विजय इस विचार की हुई कि इस आधे पराँठे को खा लिया जाए। कुत्ते तो सब खा-पीकर सो गए होंगे।

यह सोचते-सोचते वह उस आधे पराँठे को खाने लगा। आधे पराँठे में कितने-से ग्रास होते हैं। जैसे ही उसने अंतिम ग्रास मुँह में रखा उसे कुछ आहट-सी लगी। उसने अंतिम ग्रास मुँह में रखते हुए जैसे ही पीछे देखा, चबूतरे के नीचे कुत्ता खड़ा था। उसे काटो तो खून नहीं।

वह पछताने लगा। एक सोच उसके मन में उभरकर आया, कभी किसी को किसी दूसरे का हिस्सा नहीं खाना चाहिए।

अवतार

जिस समय अवतार ने छात्रावास के अहाते में प्रवेश किया, राकेश, अशोक, रवींद्र बड़ के पेड़ के नीचे खड़े बातें कर रहे थे। अवतार उनसे बचकर अपने कमरे में चला गया और किवाड़ लगा लिए। इन चारों को खड़े देखकर वह समझ गया कि उसी के लिए खड़े हैं। लेकिन कब तक अंदर रहता। खाने के लिए डाइनिंग हॉल में उसे आना ही था। जैसे ही डाइनिंग हॉल की घटी बजी, सभी गर्-गर् आ गए।

अवतार के आते ही राकेश ने व्यंग्य की भाषा में मुसकराते हुए कहा, “जानवर से आज तो आदमी हो गया।”

अवतार के आसपास खड़े अरविद, अशोक, रवींद्र सब खिलखिलाकर हँस पड़े। अवतार उस अट्टहास से थोड़ा तो विचलित हुआ पर उसने तत्काल अपने को सँभाल लिया। वह जानता था, लड़कों के इस झुंड में उसका कोई साथ देनेवाला नहीं है।

“क्या दाढ़ी-मूँछ से आदमी जानवर लगता है?” रवींद्र ने पूछा।

“तू लड़ाने की बात कर रहा है।” अवतार की ओर देखते हुए राकेश ने कहा।

“आजकल कौन आदमी दाढ़ी-मूँछ रखता है। देखता नहीं सब सफाचट है।” राकेश ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा।

“आप आदमी को जीने नहीं देगे। दाढ़ी-मूँछ रखे तो वह आज का सामान्य आदमी नहीं और बेचारा आप लोगो की संतुष्टि के लिए कटा दे तो आप हँसी करें, यह कहाँ का न्याय है?” अरविद ने कहा।

“संप्रदायो ने आदमी को इतना जकड़ दिया है कि उसके पास अच्छा-बुरा सोचने का अवसर ही नहीं रहा।” अशोक ने खाने की मेज पर बैठते हुए कहा।

“मैं भी यही समझता हूँ। बहुत दिनों से मन में एक गहरी घुटन का अनुभव कर रहा था। हिम्मत करके आज सरदार से अंग्रेज हो ही गया।” बीच में हिम्मत करके अवतार ने कहा ही।

“यह तूने ठीक ही किया। संप्रदाय की स्वीकृति जंग से नहीं, बुद्धि में होनी चाहिए। यदि लकीर के फकीर बने रहना है तो बने रहो, अन्यथा हर समझदार ने उचित मार्ग का स्वयं निर्धारण किया है।” अरविंद ने वातावरण को गंभीर बनाने के भाव में कहा।

“अरविंद, तुम्हारी बात में काफी वजन है। मैं देखता हूँ नेमीचंद जैन को। रोज हनुमानजी के दर्शन करने जाता है। जैन धर्म भी उसमें नहीं दिखाई पड़ता। रात को खूब खाता-पीता है। काहे का जैन है।” अशोक ने कहा।

“व्यक्ति की वृत्तियों पर आप जितने बंधन लगाओगे, व्यक्ति उनके विरुद्ध उतनी ही तीव्रता से विद्रोह करेगा। आदमी का सहज स्वभाव उसका मुक्त जीवन है।” रवींद्र ने कहा।

अरविंद ने टोका, “मुक्तता नहीं, सहजता ही जीवन का स्वभाव है।”

“सहजता से तुम्हारा अभिप्राय?” अशोक ने पूछा।

“जिसमें न तो कृत्रिमता हो न उच्छृंखलता।” रवींद्र ने कहा।

“उतनी-सी कर्मण्यता, जितनी आदमी को जीवित रखने के लिए आवश्यक हो।” राकेश ने स्पष्ट करने के भाव से बात जोड़ते हुए कहा।

“भाई, मैं तुम्हारी बातों से बिल्कुल सहमत नहीं हूँ। सहजता का अर्थ भले-बुरे से है, उपयोगिता-अनुपयोगिता से है, देश-काल-परिवेश की अनुरूपता से है।” अरविंद ने कहा।

अरविंद के इस कथन पर सब मौन एक-दूसरे की ओर देखने लगे। अरविंद ने देखा कि अभी ये संतुष्ट नहीं हैं, इसलिए उसने कहना जारी रखा, “क्या पहनना, क्या खाना, कैसे रहना, कैसे नहीं रहना ये सब बातें कुछ तो व्यक्ति-सापेक्ष हैं, कुछ परिवेश-सापेक्ष। इन्हें धर्म से बाँधना गलत है।”

अरविंद का यह कथन इतना बोझिल था कि आगे सुनने के लिए कोई तैयार नहीं था। राकेश, रवींद्र, अशोक मुँह फिराकर दूसरी ओर देखने लगे। भोजन कर अवतार अपने कमरे की ओर चलने लगा। अवतार को

जाते देख राकेश, रवींद्र और अशोक भी अपने-अपने कमरों की ओर मुड़ गए।

मेडिकल छात्रावास के डाइनिंग हॉल में अरविद अकेला रह गया। कहना तो बहुत चाहता था पर किससे कहे। इसलिए वह भी अपने कमरे की ओर चल दिया।

अवतार पंजाब से यहाँ डॉक्टरी पढ़ने के लिए आया हुआ है। उसने प्रथम वर्ष में प्रवेश लिया है। अवतार ने अपने केश इसलिए नहीं उतरवाए कि वह डॉक्टर बननेवाला है। लोग क्या कहेंगे? इसलिए भी नहीं उतरवाए कि उसे संकोच हो कि लड़के उसका उपहास करेंगे। उसने केश पूर्ण विवेक के साथ उतरवाए हैं। उसके पीछे उसका सोच है, अध्ययन है तथा उसका अब तक देखा-भोगा अनुभव है। वह इस बात के ही विरुद्ध है कि व्यक्ति जन्म के साथ ही परिवार के धर्म से अपने को बाँध ले। वह सोचता है यदि ऐसा होता तो विश्व में अनेक धर्म नहीं होते। अनेकानेक धर्मों के पीछे अनेकानेक मनीषियों का अपना चितन और अनुभव है। प्रचलित के विरुद्ध उन्होंने विद्रोह कर नवीन धर्म की नींव डाली है। इसीलिए ऐसे महापुरुषों को रूढ़ियों ने कभी विष दिया है तो कभी उन पर गोलियाँ दागी हैं। वे मर भले ही गए हों, लेकिन उनका चितन बराबर जीवित रहता है तथा मानव-जीवन में विस्तार पाता रहता है। वैसे प्रथम वर्ष में जो भी इस मेडिकल कॉलेज में आता है, रैगिंग की कठोर परीक्षा के तत्वे हर एक को गुजरना होता है। अवतार भी इसका अपवाद नहीं रहा है।

अवतार का पहला दिन तो शांति से बीत गया था। दिन-भर प्रवेश-पत्र भरने, शुल्क जमा करने, छात्रावास में जगह लेने में ही निकल गया था। उसके पिता साथ आए थे। छात्रावास में उसे कमरा मिलते ही वे तो दूसरे दिन वापस लौट गए थे। पुराने लड़कों की उस पर निगाह पहले दिन ही पड़ गई थी। सबके बीच वह अकेला जो था। दाढ़ी-मूँछ और पगड़ीवाला। लेकिन उसके पिता के साथ होने से उससे कोई नहीं बोला था।

दूसरे दिन अवतार कॉलेज पहुँचे, इसके पूर्व ही घेराबंदी शुरू हो गई। घेराबंदी करनेवाले कोई अधिक नहीं थे। यही कोई १०-१५ लड़के जो अपने को कॉलेज का दादा समझते आ रहे थे। अहाते की दीवार पर लगी

लोहे की जाली पर बगुलों की पंक्तियों-से बैठे थे। कुछ उनके सामने नीचे खड़े लड़के हँसी-मजाक में व्यस्त थे। उन्होंने एक नए लड़के को घेर रखा था। कोई उसके गले में हाथ डाल रहा था, कोई उसकी जेब की तलाशी ले रहा था। कोई उससे बड़े ऊल-जलूल प्रश्न कर रहा था। वह उत्तर नहीं देता तो मुक्की से वह उसकी ठुड्डी को ऊँचा कर देता। वह, लगता था, कोई पतली दाल खानेवाले किसी जैन श्रेष्ठ का सुपुत्र था। जरा-सी जोर-जबरदस्ती पर रिरियाने लगा। उसकी घिग्घी बँधी थी। जो जैसे चाहे उसकी छेड़ कर रहा था। वह बेचारा बोल नहीं रहा था।

लोहे की जाली पर बैठे बड़े लड़के ने कहा, “क्या देख रहे हो, नंगा कर दो। सब देखें, आदमी कैसा है।”

एक ने उसकी पैंट को जैसे ही हाथ लगाया वह ‘नहीं...नहीं’ करने लगा। लेकिन खोलनेवाला लड़का माना नहीं। उसने बाहरी बटन खोलकर पैंट की चेन खींच दी। भीतर का कच्छा बाहर झाँकने लगा।

लोहे की जालीवाले दादा ने कहा, “इसे झूला झुला दो।” आदेश होते तो समय लगा, चार लड़कों ने उसके हाथ-पैर पकड़कर झुलाते देर नहीं की। जब वे झुला रहे थे तभी सरदार अवतारसिंह ने पालिश से चमकते जूते पहने, शरीर से चिपकी हुई तंग पैंट में कूल्हे मटकाते हुए पूरे वेग के साथ अहाते में प्रवेश किया।

लोहे की जालीवाले के पास बैठे दूसरे लड़के ने जोर से सीट बजाई। जो लड़के पतली दाल को झुला रहे थे, उन्होंने आव देखा न ताव, उस बेचारे को ऊँचा उछालते हुए धड़ाम से जमीन पर फेंक दिया।

वह अपने को सँभाले उससे पहले लोहे की जालीवाले ने पुकारा, “सरदारजी, ऐसे नहीं जाइए। आइए, आपका कॉलेज की हरी दूब पर अभिनंदन। आइए।”

सरदार अवतारसिंह झूलते हुए लड़के की स्थिति देख चुका था। वह समझ गया था, रैगिंग चल रही है। गत वर्ष रैगिंग करनेवालों ने नए छात्रों की जो दुर्गति की थी वह अखबारों में सुर्खियों में छपी थी। समाचारों के माध्यम से वह सारी स्थिति जान चुका था। लेकिन बिना रुके जाना उसने खतरे से खाली नहीं समझा।

यों अवतार शरीर से बलिष्ठ था। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी कौड़ियों-सी फूली थीं। उसकी कमीज में से उसके सीने के बाल झाँक रहे थे। कोई उसके साथ आसानी से छेड़छाड़ करने की हिम्मत नहीं कर सकता था। उसे अपने बाहुबल पर विश्वास था। वह समझता था, ये एक भी लड़के उससे चुट्टल करने की हिम्मत नहीं करेंगे। थोड़ी-बहुत मजाक के बाद उसे मित्र बना लेंगे। इसी आशा और विश्वास के साथ वह उनकी ओर चला गया। उसके पहुँचते ही लोहे की जालीवाले लड़के ने कहा, “सरदारजी, अभी १२ नहीं बजे हैं। १२ बजाने हैं क्या?”

“आपका मतलब?” अवतार ने निडर भाव से पूछा।

“हमसे मतलब पूछ रहा है? बजा दो जी बारह।” लोहे की जालीवाले का इतना कहना था कि १०-१५ लड़के अवतार से उलझ गए। कोई उसकी पैट खोलने लगा, कोई कमीज फाड़ने लगा। एक ने अवतार की पगड़ी पर जैमे ही हाथ लगाया, अवतार ने पगड़ी को दोनों हाथों से थाम लिया। वह गिरते-गिरते बची।

“इस कॉलेज में पढ़ना है तो सरदारी नहीं चलेगी। आदमी बनकर रहना होगा।” लोहे की जालीवाले लड़के ने जैसे ही यह कहा छेड़नेवाले लड़कों ने अवतार की दाढ़ी, जो बल खिलाकर पगड़ी में घुसा रखी थी, खींच दी। दाढ़ी बिखर गई। अवतार की आँखों में खून उतर आया। लेकिन वह इतने लड़को से घिरा था। उनके हाव-भाव, स्वभाव नहीं जानता था। किस-किसके लड़के हैं, पहचानता नहीं था। इसलिए अपने क्रोध को निगल गया। मुट्ठियाँ तनी पर तनती किसी को दिखीं नहीं।

लोहे की जालीवाला बोला, “बोलो, आदमी बनकर रहोगे या सरदार? नहीं, तो हम तुझे आदमी बना दें।”

अवतार उत्तर दे उससे पहले लड़कों ने दाढ़ी खींच डाली। अवतार से अब नहीं रहा गया। उसने देख लिया था। जालीवाले लड़के के अलावा सब चुमे आम थे। उन एक-एक से तो वह अकेला निपट सकता है; लेकिन समूह में उनके होने से, गली के कुत्तों की तरह, वे शेर हो रहे थे। मनचाहा भूँक रहे थे। फिर भी उसने साहस बटोरा और दाढ़ी खींच रहे पगड़ी उछालने की कोशिश कर रहे लड़कों को लताड़ा और हवा में अपनी सुदृढ़ भुजाओं

को जैसे ही फैलाया, एक आतंक लड़की में छा गया।

सब लोहे की जालीवाले की ओर देखने लगे। उसने नेतृत्व जताते हुए सरदार का उठा हाथ थामते हुए कहा, “यह हाथ यही रह जाएगा। दिखाऊँ आपको करिश्मा? शायद किसी कॉलेज में नहीं पढ़ा है। किसी गाँवड़े से चला आया है। खेजिया कही का... इस गुस्ताखी की इनसे क्षमा माँग।”

अवतार मौन रहा। आँखों में क्रोध की जगह करुणा ने ले ली थी। आँखें क्षमा माँगने लगी थी। लेकिन लोहे की जालीवाले ने उसे नहीं पढ़ा। जोश में कहा, “चरण पकड़कर क्षमा माँगते हो या अपनी दुर्गति चाहते हो? दोनों में से एक चुन लो।”

अवतार को काटो तो खून नहीं। उसके स्वाभिमान को पैर पकड़ना गवारा नहीं था। वह खड़ा-खड़ा कुछ कहना चाहता था लेकिन उसने सोचा, कॉलेज में पढ़ना है तो इन दादा लोगो से मिलकर चलना ही पड़ेगा। कभी-कभी गधे को भी बाप बनाना पड़ता है। वह सोचने लगा इस रैगिंग से बचने का एक ही तरीका है, दोस्ती करना। अवतार ने दोनों हाथों से उसके दोनों हाथ पकड़कर कहा, “यार, मुझे तो बचने दो। मैं तुम्हारा अच्छा दोस्त सिद्ध होऊँगा।”

लोहे की जालीवाले का अहम पूरी ऊँचाई छू रहा था। कहा, “छोड़ दो जी। चल अब अपना नाम बता।”

“अवतार सिंह।” अवतार ने बड़े धीमे से कहा।

“सरदार होकर लड़की की तरह बोलता है। जोर से क्यों नहीं बोलता?”

कुछ जोर से बोल उसने अपना नाम बताया।

“अच्छा, इसे जाने दो। यह गुरुओं का ग्यारहवाँ अवतार यहाँ आया है। अच्छा, अभी जाओ।”

अवतार मन-ही-मन प्रसन्न होकर कॉलेज की तरफ चल दिया। रास्ते में उसने अपनी पैट ठीक की। कमीज के बटन लगाए। पगड़ी को सीधा किया। जूतों को जमीन पर एक-दो बार फटकारा। २०-२५ कदम चलने के बाद वह सहज स्थिति में आ गया था। जमीन पर पड़े जैन लड़के ने देखा, सरदारजी बच निकले, तो मन-ही-मन दुर्बलता को कोसते हुए कहने

लगा, संसार में जीवित रहने के लिए शरीर का बलिष्ठ होना आवश्यक है।

कॉलेज में अपने प्रवेश संबंधी कुछ कामों को निपटाकर सरदार ने सूचनापट्ट देखा। कुछ निर्देश जो आलपीन से उस पर टंगे थे, उन्हें पढ़ा और छात्रावास लौट आया।

छात्रावास के कमरे में अभी अवतार अकेला था। रात को पंखे की हवा तक गरम लगने से उसने अपना पलंग बाहर बरामदे में निकाल लिया। कमरे में ताला लगा दिया। सुबह की घटना उसके सामने सिनेमा की रील की तरह घूम गई। लोहे की जालीवाले के शब्द उसके कानों में रगने लगे। 'सरदारी नहीं चलेगी। आदमी बनकर रहना होगा।' कभी भय और कभी दोस्ती हो जाने की बात से निडरता, दोनों ताने-बाने में आ, सोच को नया ही आयाम देने लगे। सच में सरदारों को उनकी भिन्न वेशभूषा के लिए कितना कोसा-कचोटा जाता है।

लोगों ने सरदारों को मूर्ख सिद्ध करने के लिए कितने मनगढ़ंत किस्से गढ़ लिए हैं। लोग यह नहीं जानते कि उनकी ये व्यंग्योक्तियाँ फूट के बीज बोनेवाली हैं। एकता खंडित करनेवाली हैं। अंग्रेजों ने इसका कितना लाभ उठाया है। किस संप्रदाय में ऋटियाँ नहीं आई हैं। फिर सिक्ख-संप्रदाय ने तो देश के लिए अपनी बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी दी है। दादा लोग इसे क्या जानें। उन्हें तो कॉलेज में अपनी दादागीरी बनाए रखनी है। अपना उल्लू सीधा करते रहना है। न खुद पढ़ेंगे न पढ़ने देंगे।

ऐसे ही विचारों में खोए अवतार की आँखें कब गहरी नीद में डूब गई, इसका उसे पता नहीं चला। उसे यह भी पता नहीं कि कॉलेज के दादा लड़के छात्रावास के लड़कों के साथ मिलकर उसके साथ रैगिंग करने के लिए क्या-क्या षड्यंत्र कर रहे हैं। वह निश्चित सोया रहा।

राकेश, अरविंद, अशोक, रवींद्र आदि छात्रावास के पुराने लड़के थे। वे पहले से ही अपने कमरों पर कब्जा जमाए हुए थे। वे आपस में पहले से ही घुले-मिले थे। वे जब राकेश के कमरे में बैठे ताश खेल रहे थे तभी लोहे की जालीवाला दादा कुछ लड़कों के साथ भीतर आया। ताश खेलना बंद हो गया। सब उसके स्वागत में उठ खड़े हुए।

“आज किधर भूल पड़े?” राकेश ने पूछा।

“अरे यार, तुम्हारे छात्रावास में कल एक नया मुर्गा आया है न, सरदार, वह कहाँ है? सुबह साले से पैर पकड़वा ही दिए। तुमने उसका रैगिंग नहीं किया?” लोहे की जालीवाले ने पूछा।

“तुमने सुबह पाँव पकड़वा ही लिए, अब और क्या रह गया है? अब तो बचने दो।” अरविद ने कहा।

“अरे, तू तो रहा दार्शनिक का दार्शनिक। उसे आदमी बनाना है या सरदार ही रखना है?” साथ आए एक लड़के ने कहा।

“ठीक है, आज की रात मैं उसे आदमी बना देता हूँ।” तीसरे लड़के ने कहा।

“साले की दाढ़ी-मूँछ एक ओर से इस तरह कुतर दो कि उसे पूरी ही मुँडानी पड़ें।” चौथे लड़के ने कहा।

“देखो, कही सुन न ले। धीरे बोलो। यार राकेश, तेरे हजामत के डब्बे में कैची है न, ला मुझे दे।” पहले लड़के ने कहा।

“प्यारे, तू ही जिंदादिल निकला। आदमी निर्माण योजना का तू ही नेतृत्व करेगा।” लोहे की जालीवाले मोटे लड़के ने कहा।

“नहीं दद्दा, नेता तो तू ही रहेगा। मैं तो तेरा सहायक हूँ।” पहले लड़के ने कहा।

“हाँ, अश्विनी आज से सहायक नेता हुआ।” दूसरे लड़के ने कहा। पहले लड़के का नाम अश्विनी था।

“देख अश्विनी, काम इस चतुराई से हो कि सरदार जगे भी नहीं और साले की एक ओर की दाढ़ी-मूँछ भी नहीं रहे।” राकेश ने कहा।

“हाँ यार, हमें छात्रावास में भी रहना है। उसे यह पता लग गया कि हम चारों भी केश-कर्तन योजना में सम्मिलित थे तो वह पूरे सत्र हमसे खिचा-खिचा रहेगा।” रवींद्र ने कहा।

“प्यारे, तू चिता क्यों करता है। अश्विनी ने कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं। राकेश, बता, बिजली का मेन स्विच कहाँ है?” अश्विनी ने पूछा।

“बाबू, तेरा भी माइंड बड़ा फटिलाइज्ड है। क्या योजना सूझी है तुझे।” अशोक ने कहा।

“अशोक, तेरा एक काम रहेगा। जैसे ही अँधेरा हो, तू जाकर पहले

देखना, अँधेरे में सरदार जागता तो नहीं है।” अश्विनी ने कहा।

‘मेरे साथ रवींद्र भी जाएगा। यदि जाग भी गया तो कह देंगे तुम्हारी खरियत पूछने आए थे। कहीं अकेला डर नहीं रहा हो।’ अशोक ने कहा।

“यह ठीक है। नहीं जगा हो तो तुम घूम-फिरकर आ जाना।” अश्विनी ने कहा।

मेन स्विच को बंद कर दिया गया। सारा छात्रावास गहरे अँधेरे में डूब गया। रवींद्र और अशोक बिल्ली के पाँवों की तरह धीरे-धीरे सरदार के पलंग के पास से निकले। थोड़ी दूर जाकर वापस आए लेकिन सरदार गहरी नींद में डूबा था।

जैसे ही अशोक ने कहा, “सब ठीक है,” अश्विनी कैची लेकर छिपता-छिपाता गया और उसने बड़ी कुशलता से सरदार की एक ओर की मूँछ तथा एक ओर की दाढ़ी काट दी और भाग आया। सरदार सोता रहा। अश्विनी वापस कमरे में पहुँचा तो कमरा सघन अट्टहास से गूँज उठा। सब अश्विनी को उसकी सफलता पर बधाई दे रहे थे।

“अच्छा, अब हम यहाँ से चलें। कहीं वह जग गया और उसने अपनी दाढ़ी-मूँछ देख ली तो निश्चित रूप से हम पर शक करेगा।” लोहे की जालीवाले मोटे लड़के ने कहा। और उसके साथ ही पूरी टीम गर्-गर्-गर् कमरे से बाहर हो गई। मेन स्विच से बिजली खोल दी गई। चारों फिर ताश खेलने बैठ गए।

राकेश बोला, “प्यारे, हमें भी अब सो जाना चाहिए। यदि हमें जगा देखा तो वह हम पर शक करेगा।”

नरेद्र ने कहा, “ठीक है। चलो, हम भी अपने-अपने कमरों में सो जाएँ।”

सुबह जब सरदार उठा तो उसकी दाढ़ी-मूँछ के कटे बाल, जो वही उलझे थे, उसके मुँह पर हाथ फेरते ही हाथ में आ गए। बालों को हाथ में देखते ही वह समझ गया कि लड़कों ने उसके साथ शरारत की है। वह पलंग से उठकर कमरे में गया। दर्पण उठाया और अपना मुँह जैसे ही देखा, हक्का-बक्का रह गया। दाढ़ी-मूँछ तत्काल तो उगनेवाली थी नहीं, वह एक ओर की कटी दाढ़ी-मूँछ लेकर कही जाए तो कैसे जाए। झटपट उसने पलंग अंदर

रखा। किवाड़ लगाकर कुरसी पर बैठ गया।

अब क्या करे? वह कही जाने का नहीं है। सोचने लगा। मुझे डॉक्टर बनना है। पाँच साल यहीं छात्रावास में रहना है। दाढ़ी-मूँछ को रखूँ या पूरी ही कटवा दूँ?

वह एक दार्शनिक की तरह सोचने लगा, 'दाढ़ी व मूँछ का परंपराओं से क्या लेना-देना है। ईश्वर भीतर की चीज है। बाहरी उपकरणों से तो बाहर ही देखा जा सकता है। भीतर झाँकने के लिए तो पवित्र मन ही पर्याप्त है।'

लेकिन उसका परंपरागत सोच उसके आड़े आ खड़ा हुआ। उसके परिवारवाले उसे क्या कहेंगे? सारे सिक्ख उसे हिंकारत की नजर से देखेंगे। वह अपने ग्रंथियों को क्या उत्तर देगा? नहीं, उसे अपनी दाढ़ी-मूँछ नहीं कटानी चाहिए। संप्रदाय और दार्शनिकता के बीच गहरा विवाद छिड़ गया। जीत दार्शनिकता की हुई। शरीर पर केश रखना या न रखना ईश्वर-प्राप्ति में कही बाधक नहीं दिखा। उसने निश्चय किया, किन्हीं परिस्थितियों में संप्रदाय ने इस व्यवस्था को स्वीकारा होगा, अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं। बदली हुई परिस्थितियों में सोच का आधार परंपरा या संप्रदाय न होकर विवेक होना चाहिए। जो कुछ विवेकसम्मत है, उसे ही मनुष्य को स्वीकार करना चाहिए। देश, काल और परिवेश के विरुद्ध जीनेवाला निश्चय ही उपहास का पात्र होगा। उसने तय किया वह अभी नाई के यहाँ जाएगा और अग्रेजी बाल बनवाएगा। दाढ़ी व मूँछ अब नहीं रखेगा।

राकेश, रवींद्र और अशोक अपने-अपने कमरे की खिड़की से उच्चक-उच्चककर अवतार के कमरे की ओर झाँक रहे थे। अवतार उधर देख रहा है इस कारण वह ऊँचे उठ, झट नीचे दुबक जाते और हँसते। अवतार दाढ़ी व मूँछ पर पट्टी बाँधकर, शॉल ओढ़कर अपने कमरे से बाहर निकला। ताला लगाया और छात्रावास के बाहर चला गया।

अवतार क्या गया, राकेश के कमरे में सारे लड़के गरंगरंग इकट्ठे हो गए और खिलखिलाकर खूब हँसने लगे। सारा छात्रावास गूँज उठा।

“यार, मजा आ गया।” रवींद्र ने कहा।

“इस साल रैगिंग का जैसा मजा आया है वैसा पहले कभी नहीं आया।”

अवतार नाई की दुकान पर पहुँचा। अवतार को दुकान पर देखते ही नाई भौचक्का रह गया। “आइए। बैठिए। हजामत बनवाएँगे?” नाई ने पूछा।

“हाँ, अंग्रेजी बाल काट दे।”

“दाढ़ी-मूँछ बिलकुल साफ?”

“हाँ, बिलकुल साफ। मुझे डॉक्टरी पढ़नी है।”

“सरदारजी, क्या कह रहे हैं? डॉक्टरी से इनका क्या सरोकार?”

“डॉक्टरी से इनका नहीं रैगिंग का सरोकार है। यहाँ रहना है तो ऐसे ही रहना होगा।” और यह कहते-कहते अवतार नाई की कुर्सी पर बैठ गया।

पर्दे के पीछे

आधी रात की बात है। यही कोई ढाई बजे होंगे। नगर की एक तंग गली में चौधरी सैफुद्दीन का मकान है। गली गहरे अँधेरे में डूबी है। नगर परिषद का स्तम्भ तो है, पर लट्टू नहीं है। लट्टू पयूज हो गया या समाज-कंटकों ने तुड़वा दिया, कह नहीं सकते। गली में अँधेरे को चीरते हुए दो व्यक्ति रेंगते-से आगे बढ़ रहे हैं। वे कमर से झुके हैं। बाएँ हाथ में रायफल है। पीठ पर भारी बोझा लदा है। मिलिट्रीवाली ड्रेस में है। परतु पाँव में जूते खर सोलवाले हैं, जिससे चलते समय आवाज नहीं। गली पूरी तरह सुनसान है। जैसे ही वे सैफुद्दीन के मकान के आगे पहुँचते हैं, उनमें से एक ऊँचा होकर, बाहर ऊँचाई पर लगी घंटी का बटन दबाता है। जैसे उसे वह स्थान पहले से ही ज्ञात हो।

भीतर घंटी बजती है। सीढ़ियों से किसी के उतरने की खट-खट यद्यपि है तो मंद, किंतु खरखराहट सुनाई अवश्य पड़ रही है। आवाज नीचे तक आए, तब तक दोनों कोनों में दुबके हैं। उतरते पाँवों की आवाज जैसे ही किवाड़ों तक आती है, दोनों कोनों से निकलकर किवाड़ के पास आ जाते हैं। बिना पूछे कुदा सरकता है, किवाड़ खुलते हैं, दोनों दौड़कर भीतर खिसकते हैं, किवाड़ वापस बंद होते हैं और दोनों सीढ़ियों से धीमे-धीमे निस्वन् पद-चाप के साथ ऊपर चले जाते हैं।

एक बड़ा-सा कक्ष। पलंग लगे हैं। हलका-सा प्रकाश फैला है। दोनों पलंग पर बैठते हैं। रायफलें सिरहाने रखते हैं। पीठ का बोझा उतारते हैं। मकानवाला आदमी दोनों के बोझों को बड़े कक्ष में खुलनेवाले छोटे कमरे में रखकर कुदा लगा देता है।

बड़े धीमे स्वर में एक कहता है, “गिन लेना ७-७ है।”

मकानवाला आदमी कहता है, “ठीक है। वहाँ रहना ठीक नहीं था।

अच्छा किया चले आए ।”

“यह ऐसा समय है जब सब सोए रहते हैं ।” एक ने कहा ।

“पानी-वानी भरा है ?” दूसरे ने पूछा ।

“हाँ, सब भरा है । पेशाब करने की जगह उससे थोड़ा आगे ही है ।” मकानवाले व्यक्ति ने कहा ।

“ठीक । कल कितने बजे बुलाया है ?” एक ने पूछा ।

“कितने व्यक्ति आ जाएँगे ?” दूसरे ने पूछा ।

“यही कोई २०-२५ । भीड़ तो इकट्ठी करनी नहीं है । जो अपने पूरे विश्वास के है, जिन पर हमें पूरा भरोसा है, उन्हीं को बुलाया है । सब लोग ठीक १० बजे आएँगे । अभी तो आप आराम करो ।” मकानवाले व्यक्ति ने कहा ।

दोनों ने इसी बीच अपनी ड्रेस उतार ली । कमीज-पाजामा पहना और पलंग पर चित लेट गए ।

“आदेश मिला है कि इस देश का अमन-चैन भंग कर दो । बम-विस्फोट होने दो । कत्ल, आगजनी, लूटपाट शुरू कर दो ।” एक ने कहा ।

“औरत तो है पर कितनी शातिर है । जिस दिन से कुरसी पर आई है, पड़ोसी को छठी का दूध याद दिला दिया है । किस-किस मोर्चे पर लड़ेगा ।” दूसरे ने कहा ।

“अभी सो जाओ । सुबह जल्दी उठना है । इस समय ज्यादा देर बिजली जलाए रखना ठीक नहीं । शक हो जाएगा । दीवारों के भी कान होते हैं ।” मकानवाले व्यक्ति ने कहा ।

ट्यूबलाइट बुझा दी गई । हलकी रोशनी का बल्ब जल रहा है ।

करवट बदलते हुए एक ने कहा, “यार, नीद नहीं आ रही है ।”

“डर लग रहा है क्या ?” दूसरे ने पूछा ।

“नहीं रे । पतली दाल खानेवालों से क्या डर लगेगा । जिस दिन मात खाएँगे, अपनो से ही खाएँगे ।” एक ने कहा ।

“सुबह जो आनेवाले हैं उन पर कड़ी नजर रखनी है । पुलिस का कोई आदमी न आ जाए । सी० आई० डी० वालों का पता नहीं लगता ।” दूसरे ने कहा ।

“पहलेवाली सरकार ठीक थी। इस सरकार ने तो आते ही तेवर बदल लिए हैं। सीमा सील कर दी है। चौकसी बढ़ा दी है। बाप रे बाप ! खुदा कसम, इस बार तो मारे जाते। वह तो, वर्दीधारी १० कदम आगे से लौट गया।” एक ने कहा।

“आप सो जाओ न। सुबह जल्दी उठना है।” मकानवाले ने कहा।

एक गहरा मौन। खरटों की आवाज उभरती है। मकानवाला व्यक्ति यह समझकर कि दोनों को नींद आ गई, खुद भी सो जाता है।

घड़ी ने टन्-टन् आठ बजाए। मकानवाले व्यक्ति के साथ दो व्यक्ति उस कमरे में और आए। एक है अलाउद्दीन और दूसरा है अनवरअली। ये दोनों स्थानीय व्यक्ति हैं। यहाँ के अराजकीय संगठन के सर्वेसर्वा।

“भाईजान, क्या सोते ही रहेंगे?” अलाउद्दीन ने एक को हिलाते हुए कहा।

“क्या बजा है?” एक ने पूछा।

“आप उठेंगे भी कि नहीं। १० बजे वे लोग आ जाएँगे। उससे पहले हमें जिस-जिसको जो-जो देना है, उसे थैलों में अलग-अलग भरना है।” कमरुद्दीन ने कहा।

“उसे भी जगाओ, रात-भर बड़े खरटे लेता रहा, सोने ही नहीं दिया।” एक ने कहा।

कमरुद्दीन ने दूसरे व्यक्ति को हिलाया, “उठो भाईजान, आठ बज चुके हैं।” अँगड़ाई लेते हुए दूसरा उठा। तब तक पहला भी उठ गया था। दोनों निबटने चले गए। कमरुद्दीन और अलाउद्दीन ने बैठकर जिन-जिनको जो सामान देने थे, उनकी सूची बनाई।

जब कमरुद्दीन ने शकील अहमद का नाम लिया तो अलाउद्दीन ने कहा, “इसे काट दो।”

“क्यों?”

“यह थैला नहीं ले जानेवाला है।”

“कल ही उसने अंजुमन में तकरीर की है। टाड़ा को हटाने के लिए लड़ा है। भाषण दिया है।”

“तुम नहीं जानते, इसे नेतागीरी की भूख है। लेकिन अपनी धर्म-

निरपेक्ष छवि भी बनाए रखना चाहता है।”

“मैं उसे मना लूंगा। नाम रहने दो।”

शकील अहमद का नाम भी सूची में डाल दिया गया। तब तक वे दोनों निबटकर आ गए। मकानवाले व्यक्ति को लेकर चारों एक बड़े हॉल में गए। हॉल क्या था, बड़ा-सा शस्त्रागार था। कोने में एक तख्ते पर करीने से रायफलें रखी थी। दीवारों पर कारतूस टँगे थे। दूसरे कोने में धारिए, बल्लम और छुरे थे। तीसरे कोने में बड़े-बड़े कई गोले रखे थे। पास में ही टाट के बड़े थैले रखे थे। चारों-पाँचों ने एक-एक कर उनमें उन्हें रखा। लगभग १५ थैले तैयार किए गए। उस मकान के बगल में ही एक और मकान था। दीवारे अड़ी थी। बीच में एक ऐसा दरवाजा था, जिसमें होकर आया-जाया जा सकता था। इसी मकान में एक बड़ा-सा आँगन और आँगन के दूसरी ओर एक बड़ा हॉल। यही सबको बुलाया गया था।

दस बजे चारों पहुँच। हॉल में एक बड़ा फर्श बिछा था। थैले पहुँच चुके थे। वे एक ओर रखे थे। कोई २५-३० आदमी धीरे-धीरे आकर बैठे थे। पहले उठकर अलाउद्दीन ने कहा, “अपनी जान को हथेली पर रखकर ये सीनापार से आए हैं। इस देश में हमारी दो नंबर की स्थिति है। हमारे खिलाफ नारे लगाए जा रहे हैं। हमें मिटाने की तैयारियाँ हो रही हैं। हम लोग जिदा रह सके, इसके लिए जरूरी है कि पहले हम अपनी हिफाजत करें। हिफाजत बिना हथियार के नहीं हो सकती। हर शख्स को कह दीजिए कि वह अपने यहाँ रायफल रखे। सरकार से खरीदे। वहाँ नहीं मिले तो हमसे खरीदे। बिना बंदूक के हम यहाँ जिदा नहीं रह सकते। दूसरे, हमें यहाँ हमारे मुखालिफों में ऐसा वातावरण खड़ा कर देना है कि वे हमसे डरे। इसलिए कोई-न-कोई वारदात, विस्फोट, दुर्घटना होती रहे। अखबार सुर्खियों से रंगे रहें। यह सरकार लोकतंत्र की और प्रेस की आजादी की दुहाइयाँ देती रहती है। हम करेंगे इतना-सा कि अखबार सात रोज तक उसकी जुगाली करते रहेंगे। सात दिन में भय का ऐसा वातावरण फैल जाएगा कि इनकी ताकत टूट जाएगी। आपको खुद पैरों पर खड़ा होना होगा।

“सीमागार से आपको आर्म्स और अम्पूनिशन मिल सकता है। आपको ये बनाने भी सिखाए जा सकते हैं। लेकिन सामना तो आप लोगों को ही

करना पड़ेगा। हम तो गुप्त तरीके से आपकी सहायता करते रहेगे। ट्रेनिंग देते रहेगे। सामान लाते रहेगे।”

अलाउद्दीन ने थोड़ा रुककर फिर कहा, “दुनिया में हमारा सितारा चमकनेवाला है। रूस जैसे देश को, जिसको अपनी ताकत पर गुमान था, हमने तोड़कर रख दिया। लिथुआनिया, लेवीटिया आजाद हो गए हैं। जार्जिया आजाद होने को है। यह हमारी ताकत है। इस देश में हमने ६०० साल तक राज किया है। अंतिम बादशाह हमारा था। अंग्रेजों को यदि देश की बागडोर सँभलवानी थी तो हमें सँभलवानी थी। हमने देश की आजादी की लड़ाई लड़ी है। अंग्रेज बड़ा चालाक था। उसने हमें छोटा-सा झुनझुना पकड़ा दिया। पूरा देश हमारा होना चाहिए था। हम आवादी में बढ़ अवश्य रहे हैं लेकिन इसमें हमें ५० साल और लगेंगे जब हम बराबर की आवादी-वाने हो जाएँगे। हम इतना इंतजार नहीं कर सकते। हम अपना हक लेकर रहेगे। यह सल्तनत हमारी होनी चाहिए। जम्हूरियत के इस नाटक के पर्दे फाड़ देने हैं। जगह-जगह खून-खराबी, विस्फोट, आगजनी से देश में ऐसा खौफनाक वातावरण पैदा कर दो कि लोग हमारा नाम लेते डरे। हमारा सामना करते हिचकिचाएँ। हमने दुनिया में अपना परचम फहराया था। यहाँ हमारा परचम लहराया है। हम फिर अपना परचम यहाँ लहराकर रहेगे।”

श्रोताओं ने जोर की ताली बजानी चाही, लेकिन अलाउद्दीन ने उन्हें मुँह पर तर्जनी रखकर मना कर दिया। हलकी-सी चटपट होकर रह गई।

कमरुद्दीन ने खड़े होकर कहा, “आपको अपनी रक्षा के लिए जो कुछ दिया जाना है, वह तैयार है। वहाँ सैफुद्दीन से आपको सब मिल जाएगा। जो अभी ले जाना चाहें, अभी ले जाएँ, नहीं तो रात के अँधेरे में ले जाएँ।”

अलाउद्दीन ने कहा, “आपसे अभी कोई जोर-जबरदस्ती नहीं है। जो लोग बाद में ले जाना चाहते हैं अपना नाम लिखा दें।”

नाम आने लगे। एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह। आगे कोई नाम नहीं आया। एक-एक सब एक-दूसरे के चेहरे देखने लगे।

“अरे भाई, शकील अहमद साहब, आपने अपना नाम लिखा है।”

कमरुद्दीन ने पूछा।

“इतने नाम आ गए, यही बहुत हैं। कितना-सा शहर है। रोजाना के धमाको से योही दहल जाएगा।”

“नहीं-नहीं, आप हमारे नेता हैं। उस दिन की आपकी तकरीर से हमें बड़ी हिम्मत मिली है। आप ही पीछे रहेंगे तो फिर आगे कौन आगे आएगा।”

अलाउद्दीन के इतना कहने पर सभी कहने लगे, “यदि शकील साहब नहीं लेगे, तो हम भी नहीं लेगे।”

सुगबुगाहट ने जोर पकड़ा तो अलाउद्दीन ने फिर कहा, “भाईजान, हाँ कर भी लो। मैं घर पर रात को सामान पहुँचा दूँगा।”

“बात यह नहीं है अलाउद्दीन भाई, दरअसल मैं इसके पक्ष में नहीं हूँ। विस्फोटक वातावरण से हम ही संकट में पड़ते हैं। पुलिस की ज्यादतियों के हम ही शिकार होते हैं। हमारे भाई अभी भी हवालात में सड़ रहे हैं। औरतो ने सत्याग्रह किया, आंदोलन किया। वह पूरा राजनीतिक था। एक ओर हम लिथुआनिया, लेवीटिया में आजादी की जंग लड़ रहे हैं और उसी दुश्मन की पार्टी के झंडे तले हम नारे लगा रहे हैं। मैं इसके खिलाफ हूँ। इसका लाभ हमें नहीं, उस राजनीतिक पार्टी को मिल रहा है। हमें अपनी लड़ाई शांति से और अहिंसा से ही लड़नी चाहिए। हमने अंग्रेजों के खिलाफ इसी रास्ते से लड़ाई जीती है।”

शकील अहमद की इस जोरदार तकरीर ने सोचने के लिए तो सभी को विवश कर दिया, परंतु गहराई में कोई भी सोचना नहीं चाहता था। सभी चाहते थे, एक बार तो इस देश को तबाह कर दो, टुकड़े करवा दो, ताकि फिर से बादशाह लाने में आसानी रहे।

कमरुद्दीन ने उठकर कहा, “दोस्तो, शकील अहमद साहब से हमें ऐसी आशा नहीं थी। यह नहीं देख रहे हैं, आज हमारी उर्दू की क्या हालत हो गई है। कभी यहाँ उर्दू में सारा राजकाज होता था। आज उर्दू कितानों में रह गई है। जैसा अरबी, फारसी का हादसा हुआ, वही एक दिन उर्दू का होनेवाला है। हमारी तहजीब पर हमला हो रहा है। हमें कट्टा और गद्दार कहा जा रहा है। हमारी मस्जिदें तोड़ने की साजिश हो रही है। हमें एक

बार फिर ताकतवर बनना होगा। इन्हें दबाकर रखना होगा। नहीं तो हम १२ के २२ करोड़ होकर भी रहेंगे दो नंबर के ही। शकील साहब हमारे लीडर हैं। मैं उनसे दरखास्त करूंगा कि वह हाँ करे।” कमरुद्दीन के भावात्मक अभिभाषण के बाद सब शकील साहब की ओर देखने लगे।

“दोस्तो !” शकील अहमद ने उठकर कहा, “आप समझते हैं मैं आपसे दूर हूँ। ऐसा बिलकुल नहीं है। इस देश में जिस तरह हम रह रहे हैं उस स्थिति से मैं पूरी तरह वाकिफ हूँ। लेकिन गलती तो हमारी ही है। जब विभाजन हुआ था हमें तब ही चला जाना चाहिए था। हम जब यहाँ रहे हैं, तब यह मानकर रहे हैं कि हम यहाँ अल्पसंख्यक हैं। हम इस देश की मुख्य धारा को अपनी धारा मानते हैं। यहाँ की भाषा को अपनी भाषा मानते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि हम मजहब छोड़ दें। इसका अर्थ यह भी नहीं कि हम दो नंबर के नागरिक हैं। इसका अर्थ यह भी नहीं कि ‘विश्व ब्रदरहुड’ से हमने अपने आपको काट लिया है। हम आज भी वही हैं और कल भी वही रहेंगे। देखते नहीं, ये हम ही हैं कि हिंदी को ४४ साल के बाद भी देश की राजकीय भाषा नहीं बनने दिया। ये हम ही हैं कि जिसकी वजह से यहाँ की कोई निश्चित संस्कृति आज तक नहीं बन पाई। ये हम ही हैं कि जिनकी वजह से बाबरी मस्जिद आज भी सीना तानकर रामजन्मभूमि पर खड़ी है। दुनिया में आज कोई क्रिश्चियन देश है, कोई यहूदी देश है लेकिन इसे हिंदू देश नहीं कहा जा सकता। इसलिए मैं नहीं चाहता कि पुलिस के जलते हाथों में अपनी कौम को सौंप दें। यहाँ अगर लूट-खसोट, आगजनी, खून-खराबा, विस्फोट आदि होते हैं तो उसका खमियाजा हमें भोगना पड़ेगा। हम पहले यहाँ ६ करोड़ थे। अब हम यहाँ २० करोड़ के आसपास हैं। आने वाले २० वर्षों में हम उनकी आबादी के बराबर होंगे। हम वोट के आधार पर फिर बादशाही सल्तनत इनसे छीन लेंगे। इसलिए मैं समझता हूँ अराजकता, खून-खराबा और आतंक का रास्ता ठीक नहीं है। हमें मिलकर मार करनी है। इसी में हमारी कौम की भलाई है।”

अलाउद्दीन ने उठकर कहा, “यदि शकील साहब नहीं ले जाना चाहते हैं तो नहीं ले जाएँ, लेकिन हम उनसे चाहेंगे कि वह आज की हमारी कार्यवाही को रूहपोश रखें।”

कमरुद्दीन ने बीच में ही उठकर कहा, “शकील साहब के कहने का मकसद यह नहीं था कि वह थैला नहीं ले जाएँगे। वह चाहते हैं कि हम इसका इस्तेमाल जबरदस्ती आतंक फैलाने के लिए नहीं करें।”

शकील अहमद ने अपनी स्वीकृतिसूचक गरदन हिलाई। कमरुद्दीन ने कहना जारी रखा, “मैं थैला इनके यहाँ पहुँचा दूँगा। इनकी टाड़ा के खिलाफ स्पीच आपने सुनी है। इन्होंने जगह-जगह हमारी नुमाइंदगी बाखूबी की है।” कमरुद्दीन के इतना कहने के बाद सब शांत हो गए।

तब एक ने उठकर कहा, “साथियो, शकील अहमद साहब के वयान से मैं इत्तफाक करता हूँ। हम इनका उपयोग अपनी जानिब से नहीं करे, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम भीगी बिल्ली बनकर रहें। दब्बू बनकर जिएँ। हम जहाँ भी अपने मजहब, अपने इतिहास, अपनी कौम और अपनी मस्जिदों के खिलाफ नारे सुने, कार्यक्रम देखे, वहाँ इनका अवश्य इस्तेमाल करे, दहशत बनाए रखे।”

दूसरे ने खड़े होकर कहा, “शकील साहब की स्वीकृति से हमें बड़ा बल मिला है। शकील साहब एक समझदार आदमी है। यदि ये हमारे साथ नहीं होते तो यहाँ आते ही नहीं। यह भी चाहते हैं कि कौम की हिफाजत हो, हमारा मजहब यहाँ फले-फूले। एक दिन हमें हमारी खोई हुई सल्तनत वापस मिले।”

दूसरे के बैठते ही अलाउद्दीन ने कहा, “आप जब भी मौका देखे, थैला व सामान जो भी चाहे, सैफुद्दीन से ले जाएँ। अभी जो ले जाना चाहे, ले जाएँ।”

१२ बज चुके थे। एक-एक कर सब चले गए। अलाउद्दीन और कमरुद्दीन उन दोनों को लेकर उसी रास्ते से रातवाली जगह पर ऊपर के हॉल में पहुँच गए।

“मैंने कहा था न, शकील को मत बुलाओ। सारी फिजाँ खराब करके धर दी।” अलाउद्दीन ने कहा।

“तुम नहीं जानते। उसके मन में क्या है और बाहर क्या है। वह कौम का सबसे बड़ा रहनुमा है। मैं उसके घर थैला पहुँचा दूँगा। इसकी तुम चिंता मत करो।” कमरुद्दीन ने कहा।

थोड़े दिन बाद ही नगर में एक बड़ा जुलूस निकलने वाला था। कमरुद्दीन और अलाउद्दीन ने बैठकर तय किया कि जैसे ही जुलूस मुहल्ले में गुजरे, उस पर हमला किया जाए। जुलूस यदि एक बार आगे नहीं बढ़ा, तो इधर से जुलूस निकलना बंद हो जाएगा। यह हमारी सबसे बड़ी जीत होगी। इनके हौसले पस्त होंगे। हमारे मारे डरने लगेंगे।

वही हुआ। जैसे ही जुलूस आया, पहले बंदूक चली। गोली लगते ही तसवीर के पास खड़ा आदमी गिर पड़ा। पत्थर बरसाए जाने लगे। एकदम बड़ा-सा धमाका। सारा जुलूस तितर-बितर। लाशें बिछ गईं। सड़कें खून से रँग गईं। पुलिस की सीटियाँ बजने लगी। लाउडस्पीकर पर नगर दंडनायक की आवाज गूँजने लगी—“नगर में धारा १४४ लगा दी गई है। यदि अब भी नहीं हटे तो हमें कफ़ू लगाने को विवश होना पड़ेगा। मुहल्लेवालों से कहना है कि वे यहाँ से चले जाएँ।”

कौन जाता है। हल्ला मच गया। नारेबाजी बढ़ गई। सिटी मजिस्ट्रेट ने लाठीचार्ज की घोषणा की। गलियों में लोग घुस गए। पुलिस की लाठियों ने लोगों को, जो गलियों व घरों में इकट्ठे हो गए थे, बुरी तरह पीटा। मामला जितना संगीन नहीं था, उससे अधिक संगीन हो गया।

लाशें उठाकर अस्पताल पहुँचाई जाने लगी। जो बेहोश थे उन्हें होश में लाने की कोशिशें हुईं। पास ही पुलिस थाना था। सारे अधिकारी वहाँ जा बैठे। जिनके चोट लगी थी, उन्हें ले-लेकर लोग वहाँ आने लगे।

लोग देखकर हैरान थे कि शकील अहमद जिला दंडनायक के पास पहले से ही जमे बैठे हैं। उनके पीछे ही बैठे हैं कमरुद्दीन और अलाउद्दीन। बता रहे थे, सारी गलती नारों की है, जिसने लोगों को भड़काया। नारे लगाने-वालों के नाम बता रहे थे। पिटे हुए लोग जिसका नाम लेते, उसी का वे विरोध करते। कहते, वह तो वहाँ था ही नहीं। उसे झूठा फँसाया जा रहा है।

शकील साहब फिर लीडर बन गए थे। कौम की सेवा के लिए।

